आचार्य नरेन्द्रदेव-जीवन और सिद्धांत

प्रो० मुकुट बिहारी लाल

आचार्य नरेन्द्र देव

(जीवन और सिद्धान्त)
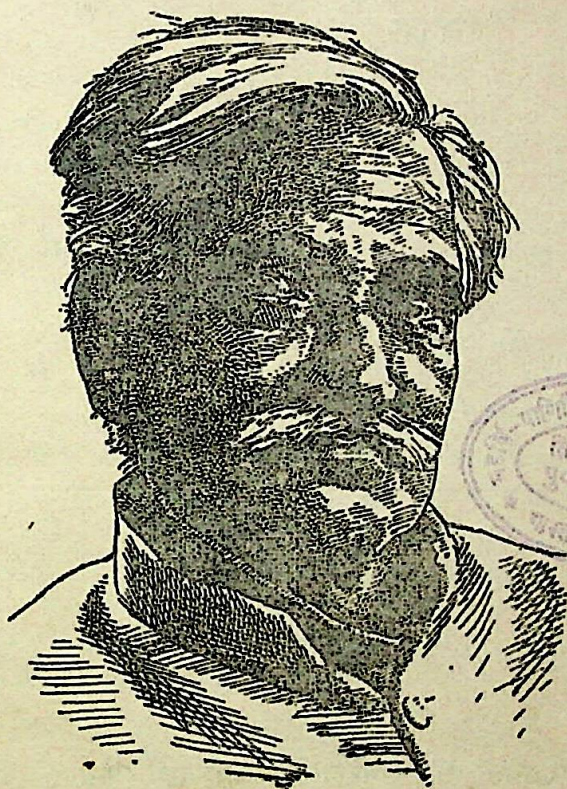
लेखक

मुकुट बिहारी लाल

आचार्य नरेन्द्र देव समाजवादी संस्थान

वाराणसी

प्रस्तावना

भारत के स्वतन्त्रता संघर्ष तथा समाजवादी आन्दोलन में आचार्य नरेन्द्र देव का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। वे निःसन्देह कांग्रेस द्वारा संचालित स्वतन्त्रता संघर्ष के एक प्रतिभाशाली क्रान्तिकारी नायक तथा उच्चकोटि के विद्वान्, आदर्श शिक्षक, निस्पृही राष्ट्रसेवी एवं राष्ट्रनिर्माता थे। लोकतन्त्र, समाजवाद, मानवता, देशबन्धुत्व पर आश्रित धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीयता तथा विश्वजनीन तत्त्वों पर आश्रित संस्कृति और नैतिकता पर उनकी दृढ़ निष्ठा थी। इन सिद्धान्तों के आधार पर स्वतन्त्र भारतीय राष्ट्र का निर्माण तथा उत्कृष्ट मानवीय संस्कृति का विकास ही उनके जीवन के प्रमुख लक्ष्य थे। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए उन्होंने लगभग तीस वर्ष (१९१६-१९४६) ब्रिटिश साम्राज्यशाही के विरुद्ध भारत की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष किया, बीस वर्ष से अधिक (१९३४-१९५६) समाजवादी आन्दोलन का नेतृत्व किया तथा चालीस वर्ष के लम्बे सार्वजनिक जीवन में निस्पृही राष्ट्रसेवी का आदर्श प्रस्तुत किया। उनका चिन्तन क्रान्तिकारी भावना से अनुप्राणित था और उनका चरित्र उनकी सद्भावना तथा उनके चिन्तन का एक उत्कृष्ट प्रतीक था। प्राचीन भारतीय संस्कृति के सर्वजनीन तत्त्व, मध्ययुगीय भारतीय संस्कृति के प्रगतिशील एवं क्रांतिकारी सिद्धान्त आचार्य नरेन्द्र देव के जीवन और चिन्तन के मूलाधार थे। उनके जीवनदर्शन में इन सब का अतुलनीय सामञ्जस्य था।

आचार्य नरेन्द्रदेव का जीवन समाज से समरस था। इतिहास की पृष्ठभूमि में ही उनके चरित्र, चिन्तन तथा क्रियाकलापों का विश्लेषण और मूल्यांकन सम्भव है। आधुनिक राष्ट्रीय आन्दोलन की समुचित जानकारी के लिए भी उनके नेतृत्व का अध्ययन परमावश्यक है। इस सबका विस्तृत विवरण "आचार्य नरेन्द्रदेव-युग और नेतृत्व" में मिल सकता है। पांच सौ पृष्ठ की इस पुस्तक के पढ़ने से पाठकों को भारत के संवैधानिक विकास का, स्वतन्त्रता संघर्ष तथा समाजवादी आन्दोलन के इतिहास का एवं आचार्य नरेन्द्रदेव के क्रियाकलापों का, उनके चारित्रिक विकास का उनके विभिन्न परिस्थितियों में उनके नेतृत्व का तथा उनके शैक्षिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक सिद्धान्तों का समुचित ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

प्रस्तावना

भारत के स्वतन्त्रता संघर्ष तथा समाजवादी आन्दोलन में आचार्य नरेन्द्र देव का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। वे निःसन्देह कांग्रेस द्वारा संचालित स्वतन्त्रता संघर्ष के एक प्रतिभाशाली क्रान्तिकारी नायक तथा उच्चकोटि के विद्वान्, आदर्श शिक्षक, निस्पृही राष्ट्रसेवी एवं राष्ट्रनिर्माता थे। लोकतन्त्र, समाजवाद, मानवता, देशबन्धुत्व पर आश्रित धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीयता तथा विश्वजनीन तत्त्वों पर आश्रित संस्कृति और नैतिकता पर उनकी दृढ़ निष्ठा थी। इन सिद्धान्तों के आधार पर स्वतन्त्र भारतीय राष्ट्र का निर्माण तथा उत्कृष्ट मानवीय संस्कृति का विकास ही उनके जीवन के प्रमुख लक्ष्य थे। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए उन्होंने लगभग तीस वर्ष (१९१६-१९४६) ब्रिटिश साम्राज्यशाही के विरुद्ध भारत की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष किया, बीस वर्ष से अधिक (१९३४-१९५६) समाजवादी आन्दोलन का नेतृत्व किया तथा चालीस वर्ष के लम्बे सार्वजनिक जीवन में निस्पृही राष्ट्रसेवी का आदर्श प्रस्तुत किया। उनका चिन्तन क्रान्तिकारी भावना से अनुप्राणित था और उनका चरित्र उनकी सद्भावना तथा उनके चिन्तन का एक उत्कृष्ट प्रतीक था। प्राचीन भारतीय संस्कृति के सर्वजनीन तत्त्व, मध्ययुगीय भारतीय संस्कृति के प्रगतिशील एवं क्रांतिकारी सिद्धान्त आचार्य नरेन्द्र देव के जीवन और चिन्तन के मूलाधार थे। उनके जीवनदर्शन में इन सब का अतुलनीय सामञ्जस्य था।

आचार्य नरेन्द्रदेव का जीवन समाज से समरस था। इतिहास की पृष्ठभूमि में ही उनके चरित्र, चिन्तन तथा क्रियाकलापों का विश्लेषण और मूल्यांकन सम्भव है। आधुनिक राष्ट्रीय आन्दोलन की समुचित जानकारी के लिए भी उनके नेतृत्व का अध्ययन परमावश्यक है। इस सबका विस्तृत विवरण "आचार्य नरेन्द्रदेव-युग और नेतृत्व" में मिल सकता है। पांच सौ पृष्ठ की इस पुस्तक के पढ़ने से पाठकों को भारत के संवैधानिक विकास का, स्वतन्त्रता संघर्ष तथा समाजवादी आन्दोलन के इतिहास का एवं आचार्य नरेन्द्रदेव के क्रियाकलापों का, उनके चारित्रिक विकास का उनके विभिन्न परिस्थितियों में उनके नेतृत्व का तथा उनके शैक्षिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक सिद्धान्तों का समुचित ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

"आचार्य नरेन्द्रदेव-जीवन और सिद्धान्त" नाम की इस छोटी सी पुस्तक में राष्ट्रीय परिस्थिति की पृष्ठभूमि में आचार्य नरेन्द्रदेवजी के जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाओं का तथा उनके नेतृत्व का दो अध्यायों में उल्लेख करते हुए बड़ी पुस्तक के अन्तिम पांच अध्याय शामिल किये गये हैं। इसके पढ़ने से भी पाठकों को आचार्य नरेन्द्रदेव के व्यक्तित्व के विशिष्ट गुणों के साथ साथ उनके चिन्तन और सिद्धान्तों का समुचित ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इस छोटी पुस्तक को भी आचार्यजी द्वारा प्रतिपादित लोकतान्त्रिक शिक्षापद्धति, धर्मनिरपेक्ष संस्कृति, लोकतान्त्रिक समाजवाद तथा समाजशास्त्र की पोथी कहा जा सकता है।

देश की जिन समस्याओं को सुलझाने के लिए आचार्य नरेन्द्रदेव ने समय-समय पर सुझाव प्रस्तुत किये थे उनमें से अधिकांश का समाधान होना अभी बाकी है। लोकतान्त्रिक समाजवाद की परम्परा पर भारतीय राष्ट्र का नवनिर्माण तथा सार्वजनिक जीवन का पुनर्गठन करना भी अभी बाकी है। इन सबके सम्बन्ध में आचार्य नरेन्द्रदेव के विचार अभी सजीव हैं तथा उनका अध्ययन नवयुवकों तथा सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के लिये लाभकर सिद्ध हो सकता है।

इस छोटीसी पुस्तक की तैयारी में ज्ञानमण्डल कार्यालय, वाराणसी द्वारा प्रकाशित "समाजवाद तथा राष्ट्रीयता" और पद्मा प्रकाशन, बम्बई द्वारा प्रकाशित 'सोशलिज्म और नेशनल रिवोल्यूशन' से भरपूर सहायता मिली है। लेखक इन दोनों का अनुगृहीत है। श्री मणिभूषण घोष, श्री परमानन्द तथा श्री श्यामाकान्त पाठक ने पुस्तक के कतिपय अध्यायों का प्रूफ पढ़ने का जो कष्ट किया उसके लिए लेखक इन सबका अनुगृहीत है। इस पुस्तक के प्रकाशन में तारा प्रिंटिंग प्रेस, वाराणसी के संचालकों तथा कर्मचारियों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। लेखक इन सबका विशेषतः श्री रमाशंकर पण्ड्या का आभारी है।

इस पुस्तक में भाषा और प्रूफ की कुछ त्रुटियां रह गयी हैं। आशा है कि पाठकगण इनके लिए लेखक को क्षमा करते हुए पुस्तक के अपनाने का कष्ट करेंगे।

वाराणसी
२४ मई १९७१

मुकुट बिहारी लाल

विषय-सूची

शुद्धिपत्र

पुस्तक में भाषा और प्रूफ की कुछ अशुद्धियां रह गयी हैं। पाठकगण उन्हें ठीक करते हुए पढ़ने की कृपा करें। कुछ विशिष्ट अशुद्धियां निम्नलिखित हैं।—

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
		कम्यूनिस्ट	कम्युनिस्ट
		कम्यूनिज्म	कम्युनिज्म
४६	७	सहृदया	सहृदयता
५०	२०	अभिधर्म	अभिधम्म
५४	६	समाजाहित	समाजहित
५६	१४	प्रथक	पृथक
६१	१५	प्रभावशाल	प्रभावशाली
७२	७	दूसरे की पुष्टि	दूसरे को पुष्ट
७४	८	जीवन से	जीवन के
७४	१६	जन्मे	जन्म
७९	२५	भी	ही
१०५	२३	पुन्नरूज्जीवन	पुनरुज्जीवन
१०५	२८	खात्म	खत्म
१०५	३०	स्वामीत्व	स्वामित्व
१०८	१७	राजशाही	राजाशाही
१०९	२२	मजदूरों को	मजदूरों के
१२६	१५	डुवेच	डुवचेक

१—उत्कर्ष और संघर्ष

सामाजिक वातावरण

सन् १८५७ की क्रान्ति ने सामन्तशाही की रीढ़ तोड़ दी। उसके लिए साम्राज्यशाही से संघर्ष असम्भव हो गया। विरोधी सामन्तों की जागीरें छीन कर साम्राज्यशाही के पिट्ठुओं को दे दी गयीं और उन्हें साम्राज्यशाही का अंग बना लिया गया। इस गठबन्धन के बाद आजादी के संघर्ष के नेतृत्व का उत्तरदायित्व मध्यम श्रेणी के शिक्षितों को वहन करना पड़ा। नवजागृति के अग्रदूत राममोहन राय ने विप्लव से तीस वर्ष पहले ही बंगाल के नवयुवकों में उदारवादी विचारों का प्रसार शुरू कर दिया था और विप्लव के कुछ दिन पहले ही राष्ट्रपिता दादाभाई नौरोजी ने देश के नवयुवकों को जनतान्त्रिक उत्तरदायित्व के लिये तैयार करना शुरू कर दिया था।

उन्नीसवीं शताब्दी के तीसरे चरण के अन्त तक नवशिक्षितों में इतनी शक्ति पैदा हो गयी थी कि वे भिन्न-भिन्न प्रान्तों में राजनीतिक संस्थाएं बनाकर साम्राज्यशाही शासन की समीक्षा और शासन में उदारवादी सुधार की मांग कर सकें। जहां बहुत से शिक्षित नौकरशाही का अंग बन साम्राज्यशाही को पुष्ट करते हुए अपना जीवन निर्वाह करते थे, वहां कतिपय शिक्षितों ने प्रान्तीय संस्थाओं द्वारा काम करते-करते अन्त में सारे देश की राजनीतिक संस्था 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस' की बुनियाद डाली। उदारवादी राष्ट्रीयता और राजनीतिक वैधानिकता इस आन्दोलन के आधार थे। सब वर्ग, सम्प्रदाय और प्रान्तों से सम्बन्धित भारतीयों को एक राष्ट्रीय सूत्र में बांधना, उदारवादी विचारों का प्रसार करना, जनतांत्रिक विधान के मूल सिद्धान्तों के अनुकूल शासनव्यवस्था में सुधार कराना और व्यापक देशहित के आधार पर आर्थिक और सांस्कृतिक निर्माण के लिए प्रयत्न करना इस आन्दोलन के लक्ष्य थे। इस उदार धर्मनिरपेक्ष लोकतान्त्रिक राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास में पितामह दादाभाई नौरोजी का विशेष योगदान था।

राममोहन राय की नवजागृति मूलतः धार्मिक और सांस्कृतिक थी। उनके विचार में धार्मिक पवित्रता और लौकिक आनन्द का समन्वय सम्भव और वांछनीय है। वे जातिप्रथा के जटिल बन्धनों को राष्ट्रीय भावना के विकास में बाधक बताते थे। मानव समाज की एकता और स्वतंत्रता पर उनका अटल विश्वास था और पश्चिमी यूरोप की जनतान्त्रिक हलचलों और उदारवादी विचारों का उन पर गहरा प्रभाव था। यह उदारवादी जनजागृति बंगाल में उनके नेतृत्व में ब्रह्मसमाज के रूप में और महाराष्ट्र में महादेव गोविन्द रानडे के नेतृत्व में प्रार्थना समाज के रूप में प्रकट हुई। रानडे स्वयं एक व्यापक संस्था थे। उन्होंने अनेक नवयुवकों को समाज सेवा में प्रेरित किया तथा सोशल कान्फ्रेन्स एवं औद्योगिक कान्फ्रेन्स आदि संस्थाओं की स्थापना कर उनके द्वारा समाज-सुधार तथा औद्योगिक विकास के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योग दान किया तथा अपने वक्तव्यों द्वारा इस देश में ऐतिहासिक समाज-विज्ञान तथा भारतीय अर्थ-तन्त्र को पुष्ट किया।

दूसरी ओर स्वामी दयानन्दजी ने वैदिक संस्कृति के पुनर्जीवन पर जोर दिया और प्रचलित हिन्दू धर्म को पौराणिक बता कर मूर्तिपूजा आदि बहुत से धार्मिक कृत्यों और रिवाजों का जोरदार खण्डन किया। आर्यसमाजों के जवाब में सनातन धर्म सभाएं कायम हुईं और सनातन धर्म के प्रचार ने भी तेजी पकड़ी। बहुतसी बातों में मतभेद होने के कारण दोनों में काफी प्रतिद्वन्द्विता थी। इस प्रतिद्वन्द्विता में बहुत से समाज-सुधारक आर्यसमाज की ओर झुकते थे, पर बहुत से गतिशील व्यक्तियों को उसकी कट्टरता और रूढ़िवादी संकीर्णता की दृढ़ता खटकती थी। उन्हें किसी नयी गतिशील आध्यात्मिक प्रेरणा की तलाश थी। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में यह प्रेरणा स्वामी विवेकानन्द ने प्रदान की। उन्होंने अद्वैत वेदान्त के आधार पर व्यवहारिक वेदान्त की पुष्टि की और उसमें बहुत से उदारवादी विचारों का समावेश कर नवयुवकों को अध्यात्म और नैतिकता के बल पर आगे बढ़ने का आह्वान किया। आगे चल कर इन्हीं विचारों की पुष्टि स्वामी रामतीर्थ ने की।

बचपन और शिक्षा

ऐसी सामाजिक और राजनीतिक परिस्थिति में ३१ अक्टूबर, १८८९ ई० को एक मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवी के घर में नरेन्द्र देव ने जन्म लिया।

उनके पिता बलदेव प्रसादजी अवध के प्रसिद्ध नगर फैजाबाद के रहने वाले थे, पर उनके जन्म के समय वे सीतापुर में अपने चाचा के शिष्य के साथ वकालत करते थे। पूज्य पिता की मृत्यु के बाद श्री बलदेव-प्रसाद जी फैजाबाद चले आये और वहीं आजीवन वकालत करते रहे। वे बहुत प्रभावशाली वकील थे। उन्होंने वकालत में काफी नाम और धन कमाया। पर समृद्धि और प्रसिद्धि ने उनके जीवन में अहंकार की वृद्धि नहीं की। उनका सनातन धर्म में पूरा विश्वास था। साधुओं के सत्संग और धर्मग्रन्थों के अध्ययन में उनकी विशेष रुचि थी।

नरेन्द्र देवजी के जीवन पर उनके पिता का गहरा असर पड़ा। उनकी सदा शिक्षा थी कि नौकरों के साथ अच्छा व्यवहार किया जाय, उन्हें गाली गलौज न दी जाय। नरेन्द्र देवजी ने इस शिक्षा का सदा पालन किया। पिताजी का आदेश था कि सदा सत्य ही बोलना चाहिये। आचार्यजी ने इस आदर्श का भी आजीवन यथाशक्य पालन किया। इसकी उपेक्षा हो जाने पर उन्हें बड़ा सन्ताप होता था।

नरेन्द्र देव का दस वर्ष की आयु में यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। वह पिताजी के साथ नित्य संध्या-वन्दना और भगवद्गीता का पाठ करते थे। एक महाराष्ट्र ब्राह्मण उन्हें सस्वर वेद-पाठ सिखाते थे और उन्हें एक समय रुद्री और सम्पूर्ण गीता कंठस्थ थी। उन्होंने अपने बचपन में ही अमरकोष और लघुसिद्धान्तकौमुदी का अध्ययन किया और इस तरह पिताजी के सम्पर्क और उपदेश से उन्होंने सदाचार का पाठ पढ़ा और भारतीय संस्कृति और साहित्य के प्रति निष्ठा प्राप्त की।

नरेन्द्र देवजी की प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही हुई। वे सन् १९०२ में स्कूल में भर्ती हुए और उन्होंने सन् १९०६ में इंट्रेंस परीक्षा पास की। नरेन्द्र देवजी अपनी कक्षा में सर्वोत्तम रहा करते थे तथा शील और संयम के लिए प्रसिद्ध थे। उनके गुरुजन सब उनसे बहुत प्रसन्न रहा करते थे। वे उन्हें आदर्श विद्यार्थी समझते थे। नरेन्द्र देव भी अपने सभी अध्यापकों का समुचित सम्मान करते थे। जिन शिक्षकों ने इस जमाने में उनको विशेष रूप से प्रभावित किया उनमें सर्वश्री दत्तात्रेय भिकाजी, राधेश्यामजी और राधे रमणजी प्रमुख थे। अपने सहपाठियों से भी उनका अच्छा सम्बन्ध था। वे सबसे

मित्रवत् व्यवहार करते थे। दूसरों की बुराई में उनका मन नहीं लगता था। वे सायंकाल अपने मित्रों के साथ नदी के किनारे बैठकर घंटों प्राकृतिक दृश्य देखते रहते थे, इसी में उनको आनन्द आता था। उनके उस समय के मित्रों का कहना है कि वे बचपन में ही इतने कोमल स्वभाव के थे कि खिलवाड़ में भी किसी पशु पक्षी को कष्ट नहीं पहुँचा सकते थे। बचपन में भी उन्हें खेल तमाशों में विशेष रुचि नहीं थी। हां, कभी-कभी ताश खेल लेते थे, तथा दूसरे बच्चों की तरह मुहर्रम के जमाने में ताजियों के साथ हंसते खेलते करबला तक चले जाते थे। रामलीला देखने में भी वे काफी दिलचस्पी लेते थे।

उच्च शिक्षा और राजनीतिक चेतना

सन् १९०६ में नरेन्द्र देवजी उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए इलाहाबाद गये, म्योर सेन्ट्रल कालेज में दाखिल हुए और हिन्दू बोर्डिंग हाउस में रहने लगे। उस समय तक उनके कोई विशेष राजनीतिक विचार नहीं थे, केवल कांग्रेस के प्रति आदर-श्रद्धा का भाव था और अपने पिता के साथ दर्शक के रूप में वे कांग्रेस के दो अधिवेशनों में शामिल भी हुए थे। प्रयाग जाने पर उनके राजनीतिक विचार तेजी से बनने लगे। वहीं उनके राजनीतिक विचार परिपक्व हुए और इस नाते वे प्रयाग से अपना आध्यात्मिक सम्बन्ध मानते थे।

बंगभंग भारत की राजनीति में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। उसने अंग्रेजों की न्याय-प्रियता का भंडाफोड़ कर दिया। नवयुवकों को सिद्ध कर दिया कि न्याय की दुहाई देने से काम नहीं चल सकता, बल्कि अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए किसी न किसी रूप में संघर्ष करना ही होगा। उसी समय जापान ने रूस को युद्ध में पराजित किया। जापान की इस विजय ने एशिया में एक नई रूह फूंक दी। एशिया-वासियों ने अपने आत्मविश्वास को प्राप्त किया। उन्हें विश्वास होने लगा कि यूरोप की साम्राज्यवादी शक्तियों का मुकाबला किया जा सकता है और संघर्ष के जरिये खोये हुए अधिकार प्राप्त किये जा सकते हैं। इन सबके कारण देश में कांग्रेस के पुराने नेतृत्व का प्रभाव घटने लगा। जहां कुछ नौजवानों ने रूस के अराजकतावादी विचारों के प्रभाव में आकर आतंक और षड्यंत्र के द्वारा क्रान्ति के रास्ते को अपनाना शुरू

किया, वहां दूसरे बहुत से नवयुवकों को बहिष्कार का रास्ता ठीक जंचा। कांग्रेस में दो दल हो गये। पुराने नेता नरम दल वाले कहे जाने लगे और नया दल गरम दल के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसके प्रमुख नेता बाल गंगाधर तिलक, विपिनचन्द्र पाल, अरविन्द घोष और लाला लाजपत राय थे। इस नये गरम दल के कार्यक्रम के प्रधान अंग स्वदेशी, ब्रिटिश माल का बहिष्कार तथा राष्ट्रीय शिक्षा थे। इस दल का विचार था कि जनता के सहयोग के बिना विदेशी सरकार देश पर शासन नहीं कर सकती और यदि जनता बहिष्कार करने को तैयार हो जाय तो स्वराज्य प्राप्त किया जा सकता है।

नरेन्द्र देवजी प्रयाग आने के कुछ दिन बाद ही गरम दल के विचारों के हो गये। वे सन् १९०६ में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में गये और वहां से लौटने पर उन्होंने स्वदेशी का व्रत लिया और गरम दल के 'वन्दे मातरम्' आदि समाचारपत्रों को पढ़ना शुरू किया। लोकमान्य तिलक और अरविन्द घोष के व्यक्तित्व और विचारों का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा। उसी जमाने में नरेन्द्र देवजी ने लाला हरदयाल द्वारा तैयार किये पाठ्यक्रम में बताई पुस्तकें पढ़ीं तथा मेत्सनी आदि क्रान्तिकारियों के विचारों का अध्ययन कर उनसे प्रभावित हुए।

बी०ए० की परीक्षा पास करने के बाद नरेन्द्र देव पुरातत्व पढ़ने काशी चले गए और क्वीन्स कालेज से उन्होंने सन् १९१३ में एम० ए० की परीक्षा पास की। यहां उनका शचीन्द्र नाथ सान्याल से परिचय हुआ और उनके द्वारा उनका क्रान्तिकारियों से सम्पर्क हुआ। नरेन्द्र देव इन क्रान्तिकारियों से बड़ी सहानुभूति रखते थे। इन्हें जरूरत पड़ने पर मदद भी देते रहते थे, पर वे स्वयं किसी क्रान्तिकारी दल में शामिल नहीं हुए। एम० ए० के विद्यार्थी की हैसियत से उन्होंने पालि भाषा पढ़ी और उसकी मदद से उन्होंने आगे चलकर बौद्ध धर्म और दर्शन का अध्ययन किया। बौद्ध दर्शन और चरित्र का उनके विचारों और जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। वे महायान बौद्ध-दर्शन के बड़े प्रशंसक थे। पर महायान पन्थ के सुलभ मार्ग को वे देश के पतन का कारण मानते थे। निष्काम सेवा, करुणा, मैत्री उनके जीवन के जौहर थे।

इस जमाने में जिन प्राध्यापकों ने उनको विशेष रूप से आकृष्ट और प्रभावित किया उनमें डाक्टर गंगा नाथ झा, डा० वेनिस, प्रोफेसर नार्मन, और डाक्टर ब्राउन प्रमुख थे। इस समय नरेन्द्रदेव जी के विशेष आकर्षण का विषय समाज विज्ञान था। लियो टाल्सटाय, मेत्सनी तथा क्रोपाटकिन आदि के क्रान्तिकारी विचारों से वे परिचित और प्रभावित हुए। इस जमाने में नरेन्द्रदेव जी काफी विनोदप्रिय थे। वे मित्रों से काफी मजाक करते, काफी वाद-विवाद भी करते, पर मजाक या वाद-विवाद में बिगड़ते नहीं थे। खेलकूद में उन्हें इस समय भी कोई विशेष दिलचस्पी नहीं थी। कभी-कभी बिना पैसे का तास खेल लेते थे, पर उसमें भी जीत का कोई विशेष आग्रह नहीं होता था। वे कभी-कभी स्वयं ही अपने प्रतिद्वन्द्वी को जिता देते थे। इस जमाने में भी नरेन्द्र देवजी के अपने सहपाठियों से काफी मधुर सम्बन्ध थे। सर्वश्री हीरालाल खन्ना, शिवप्रसाद गुप्त, तथा गोपीनाथ कविराज से विशेष रूप से उनके घनिष्ठ सम्बन्ध हो गये थे।

वकालत

नरेन्द्र देवजी पुरातत्व विभाग में काम करना चाहते थे। पर जब उन्हें उस विभाग में काम नहीं मिला तब घर वालों के आग्रह करने पर इस विचार से कि वकालत करते हुए राजनीति में भाग लिया जा सकता है, उन्होंने कानून पढ़ना शुरू किया और सन् १९१५ में एल० एल० बी० की परीक्षा पास करने के बाद फैजाबाद में वकालत प्रारम्भ की और देश की राजनीति में सक्रिय कार्यकर्ता के रूप में प्रवेश किया। उनकी वकालत बहुत अच्छी चलती थी। जो धन वह कमाते थे उसका अधिकांश निर्धन विद्यार्थियों की सहायता और बायोकेमिक दवाओं के बांटने में खर्च होता था। वकालत के जमाने में उन्होंने वाल्मीकीय रामायण, महाभारत, लोकमान्य तिलक का गीतारहस्य, अरविन्द घोष के गीता-निबन्ध तथा मार्क्सवाद के सिद्धान्तों का अध्ययन किया।

जब नरेन्द्र देवजी स्कूल के विद्यार्थी थे तभी सन् १९०४ में बिहार के प्रसिद्ध नगर गया में उनका विवाह हुआ था। पर जब वे प्रयाग में वकालत पढ़ते थे तभी उनकी पत्नी का देहावसान हो गया था। फैजाबाद में वकालत आरम्भ करने के दो तीन वर्ष बाद माता-पिता के

बहुत आग्रह पर वे दूसरा विवाह करने पर तैयार हो गये। उनका दूसरा विवाह आगरे में प्रेमा देवीजी के साथ हुआ। वे बहुत साध्वी सिद्ध हुईं।

वकालत के जमाने में करीब-करीब सभी वकीलों से नरेन्द्र देवजी के अच्छे सम्बन्ध थे। वे बड़ों का आदर करते और समवयस्क साथियों से स्नेह करते। वकीलों के अलावा दूसरे बहुत से सम्मानित महानुभावों से भी उनके मधुर सम्बन्ध हो गये थे। इस जमाने में करीब-करीब प्रति सप्ताह वे रामतीर्थ लीग द्वारा आयोजित सतसंग में जाते थे, जहां स्वामीजी के विचारों का पारायण, उनके सिद्धान्तों का विश्लेषण तथा उनकी रचनाओं का गान होता था। नरेन्द्र देवजी रामतीर्थ जी के भजनों की मस्ती से इतने आकृष्ट हो गये थे कि फैजाबाद से चले जाने के बाद भी रामवर्षा में संग्रहीत भजनों को अवसर मिलने पर सुनते रहते थे। इस समय नरेन्द्र देवजी अकबर इलाहाबादी की गजलों में भी काफी दिलचस्पी लेते थे। वे अकबर की गजलों और शेरों को काफी जोश के साथ-साथ झूम-झूम कर पढ़ते थे। नरेन्द्र देव और अकबर के दृष्टिकोण में काफी अन्तर था पर अकबर की शायरी का नैतिक आधार नरेन्द्र देवजी को बहुत पसन्द था। उनके व्यंग पर भी नरेन्द्र देवजी लट्टू थे। अकबर की तरह नरेन्द्र देवजी को भी नेताओं की दुरंगी चालें और अर्ध-शिक्षित नवजवानों की चाल ढाल बिलकुल ही नापसन्द थी।

राजनीतिक कार्य

सन् १९०७ में कांग्रेस में फूट पड़ जाने के बाद, लगभग नौ साल तक गरम दल के लोग कांग्रेस से अलग रहे। इस काल में नरेन्द्र देव जी ने कांग्रेस के काम में कोई दिलचस्पी नहीं ली। गरम दल के नेता अपने विचारों के कार्यकर्ताओं की एक राष्ट्रीय कान्फ्रेंस कायम करना चाहते थे। पर सरकार ने आपस की फूट से लाभ उठा कर गरम दल को छिन्न-भिन्न कर दिया, कई नेताओं को जेल में भेज दिया। इस तरह सन् १९१४ तक देश की राजनीति की गति मन्द रही। पर सन् १९१४ में यूरोप में प्रथम विश्व युद्ध शुरू हुआ। इसने देश की राजनीति में नई गति पैदा कर दी। गरम दलीय और क्रान्तिकारी विचारों ने फिर जोर पकड़ा। युद्ध के कुछ महीने पहले लोकमान्य तिलक छः वर्ष

तक मांडले जेल में रहने के बाद मुक्त हुए, उधर श्रीमती एनीबेसेंट ने देश की राजनीति में दिलचस्पी लेनी शुरू की। दोनों ने सन् १९१६ में होमरूल लीगें कायम कीं और उनके द्वारा आत्म-निर्णय और स्वराज्य के लिए देशव्यापी आंदोलन शुरू किया।

सन् १९१६ में ही संयुक्त प्रान्त में श्रीमती एनीबेसेंट द्वारा स्थापित होमरूल लीग की शाखा बनी और नरेन्द्र देवजी ने उसकी एक शाखा फैजाबाद में खोली। वह उसके मन्त्री चुने गये। सन् १९१६ में नरमदल और गरमदल में समझौते के बाद लोकमान्य तिलक कांग्रेस में शामिल हो गये। नरेन्द्र देवजी भी कांग्रेस के सदस्य बन गये और फैजाबाद में होमरूल लीग और कांग्रेस के द्वारा राष्ट्र सेवा करते रहे।

असहयोग

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद देश की राजनीति ने नया मोड़ लिया। ब्रिटिश सरकार ने भारत को कुछ राजनीतिक सुधार तो दिये, पर उसके साथ उसपर कुछ काले कानून भी लाद दिये। जनता ने सुधारों को अपर्याप्त समझा और काले कानूनों का घोर विरोध किया। गांधीजी ने देश की राजनीति का नेतृत्व अपने हाथ में लिया। उनके नेतृत्व में इन कानूनों के खिलाफ आन्दोलन शुरू हुआ, जिसको दबाने के लिए पंजाब के गवर्नर ने बड़ी सख्ती से काम लिया। झगड़े हो जाने के कारण आन्दोलन तो बन्द कर दिया गया, पर जनता का रोष कम होने के बजाय बढ़ा और जब ब्रिटिश सरकार खिलाफत के सम्बन्ध में भी ठीक निर्णय नहीं कर पाई, तब सन् १९२० में गांधीजी ने असहयोग आन्दोलन शुरू कर दिया।

नरेन्द्र देवजी विधान सभाओं के बहिष्कार के खिलाफ थे। उन्होंने कांग्रेस में कौंसिलों के बहिष्कार के विरुद्ध वोट दिया। पर जब एक बार निर्णय हो गया तो उसे शिरोधार्य किया और कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन से लौटने के बाद किसी से कुछ मशविरा लिये बगैर वकालत छोड़ दी और आजीवन एकमात्र राष्ट्र सेवा के व्रती बन गये। असहयोग आन्दोलन में शामिल होना उनके लिये इसलिये भी आसान था कि उन्हें वकालत से कहीं अधिक राजनीति में दिलचस्पी थी और स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रशिक्षा आदि असहयोग के कार्यक्रम पर उनकी पुरानी आस्था थी।

किसान आन्दोलन

वकालत छोड़ते ही उन्होंने फैजाबाद जिले में किसान आन्दोलन का नेतृत्व किया। किसानों का साथ देते हुए उनकी मांगों का समर्थन किया, कार्यकर्ताओं को अपने काम पर डटे रहने के लिए प्रोत्साहित किया, सरकार के समर्थकों द्वारा बनाई अमन सभाओं के भ्रामक प्रचार का भण्डा फोड़ते हुए स्वराज्य की पुष्टि एवं किसानों की मांगों के समर्थन में कई प्रभावशाली व्याख्यान दिये। इन व्याख्यानों की चर्चा सारे अवध में फैल गयी और बाबू नरेन्द्र देव एक प्रख्यात वक्ता समझे जाने लगे।

सरकार किसानों के इस आन्दोलन को दबा देना चाहती थी। उसने पहले तो किसानों एवं कार्यकर्ताओं को पकड़ना और उन पर सख्ती करना शुरू की, पर जब उसने देखा कि आन्दोलन आसानी से दबने वाला नहीं है, तब इस भय से कि ये किसान कांग्रेस द्वारा संचालित असहयोग आन्दोलन में शरीक न हो जायं, उसने किसानों की बेदखली वाली मांग मान ली। नोटिस के द्वारा बेदखली रोक दी गयी और नया कानून बनाकर किसानों को हीनहयाती का हक दे दिया गया। किसानों की यही मुख्य मांग थी।

काशी विद्यापीठ

नरेन्द्र देवजी के जीवन में सदा दो प्रवृत्तियां रहीं—एक पढ़ने-लिखने की, दूसरी राजनीति की। जब दोनों सुविधाएं एक साथ मिल जातीं, तब उन्हें बड़ा परितोष होता था। इसी कारण जब पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने उनसे कहा कि बनारस में विद्यापीठ खुलने वाली है और तुम्हें लोग वहां चाहते हैं तो वह विद्यापीठ में काम करने के लिए तैयार हो गये। विद्यापीठ के काम में उनका मन लग गया और लगभग दस वर्ष तक वहीं रह कर वे राजनीति का कार्य और पठन-पाठन करते रहे। मुख्यतः विद्यापीठ के जरिये ही वे राष्ट्र की सेवा करते रहे। विद्यापीठ में जाते ही वे उपाध्यक्ष बना दिये गये और सन् १९२६ में डाक्टर भगवानदास के त्याग-पत्र देने पर वे उनकी जगह अध्यक्ष बन गये। उन्होंने विद्यापीठ के कुलपति के पद को भी वर्षों सुशोभित किया। वहीं नरेन्द्र देवजी आचार्य बने, और उन्होंने अपने ज्ञान को परिपक्व किया तथा उच्चकोटि के विचारक और राजनीतिज्ञ

की क्षमता प्राप्त की। वहां ही उन्होंने बौद्ध दर्शन, उपनिषद् तथा एशिया की क्रान्तिकारी हलचलों का अध्ययन किया। वहां ही उन्होंने अपनी विद्वत्ता, मानवता और कर्तव्यपरायणता से बहुत से नवयुवक कार्यकर्ताओं को देश-सेवा के योग्य बनाया। विद्यापीठ में जो काम उन्होंने किया उसे वे अपने जीवन का स्थायी काम समझते थे।

आचार्यजी आदर्श शिक्षक थे। उन्हें अनेक देशों के इतिहास और अनेक युगों के दर्शन का उच्चतम ज्ञान था। वह जिस विषय को पढ़ाते थे उसे वह इतना स्पष्ट, रोचक और सुगम बना कर प्रस्तुत करते कि विद्यार्थी उसका अर्थ सरलता से ग्रहण कर सकें। इतिहास को पढ़ाते समय वह अतीत की धुंधली परिस्थितियों और ऐतिहासिक पात्रों को जीवित वास्तविकताओं के रूप में प्रस्तुत कर देते थे। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास का सजीव चित्र वे एशिया के संघर्षों और आर्थिक परिस्थितियों की पार्श्वभूमि में खींचते और एशिया के विभिन्न स्वतन्त्रता संघर्षों पर व्याख्यान देते समय वे राष्ट्रीय भावना से ऐसे अनुप्राणित हो जाते और उनकी वाणी में ऐसा चमत्कार पैदा हो जाता कि जिससे उनके श्रोताओं को ज्ञान के साथ-साथ राष्ट्रसेवा की सद्प्रेरणा भी प्राप्त होती। जब वे भारतीय आतंकवादी क्रान्तिकारी आन्दोलन की चर्चा करते, देश की बलिवेदी पर पतंगों की भांति बलिदान हो जाने वाले साहसी और आत्म-त्यागी क्रान्तिकारी युवकों के त्याग और बलिदान को बताते, तब उनके विद्यार्थी ऐसा अनुभव करते कि मानों एक सक्रिय क्रान्तिकारी ही उनके सामने बोल रहा है। बौद्ध धर्म और दर्शन पर व्याख्यान देते हुए वे विद्यार्थियों के सामने बुद्ध के भव्य व्यक्तित्व का चित्र खींचते, बौद्ध धर्म की विभिन्न शाखाओं, प्रशाखाओं का मार्मिक विश्लेषण करते और आर्य शान्तिदेव के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'बोधिचर्यावतार' के पदों को बहुत अनुप्राणित और आकर्षक ढंग से प्रस्तुत करके विद्यार्थियों को समस्त आर्त प्राणियों की सेवा का महत्त्व बताते और उसकी उन्हें शिक्षा देते।

नरेन्द्र देवजी एक आदर्श शिक्षक के साथ-साथ कुशल प्रबन्धक थे। उनका प्रबन्ध शील और कर्तव्यपरायणता पर आधृत था। उसमें नम्रता और दृढ़ता का समन्वय था। वह अधिकार के दम्भ और अहंकार से शून्य था। प्रशासन की अकड़ के बजाय कर्तव्यशील

व्यवहार ही उसका मूलाधार था। संस्था के अध्यक्ष की हैसियत से नरेन्द्र देवजी विद्यार्थियों के प्रशिक्षण का तथा कार्यालय के काम का विशेषतः हिसाब का समुचित निरीक्षण करते रहते थे। वे दूसरे अध्यापकों को जितना प्रशिक्षण का कार्य सौंपते उससे कहीं अधिक स्वयं करते और आशा करते कि वे सब अपना काम ठीक तौर से करेंगे। उन्हें प्रबन्ध में ढील-ढाल बुरी लगती थी। अतः वे व्यवहार में कोमल होते हुए भी अनुशासन में दृढ़ थे।

आचार्यजी के लिए विद्यापीठ एक कुटुम्ब-सा था। अध्यापक, विद्यार्थी, कार्यकर्ता सबसे उनका बड़ा मीठा सम्बन्ध था। वे विद्यार्थियों के मानव व्यक्तित्व का आदर करते और उनसे बहुत प्रेम करते थे। वे उनके शिक्षक ही नहीं मित्र और मार्ग दर्शक भी थे। वे उन्हें पढ़ाते भी थे और सद् उपदेश भी देते थे, उनसे हंसते बोलते भी थे और आवश्यकतानुसार उनकी आर्थिक सहायता भी करते थे, एवं उनके साथ राजनीतिक काम भी करते थे। उन्हीं से सबको नेतृत्व मिलता था, प्रेरणा मिलती थी, स्फूर्ति मिलती थी, साहस और उत्साह मिलता था। इस जमाने में आचार्य जी का जिन व्यक्तियों से घनिष्ट सम्बन्ध हुआ उनमें श्री श्रीप्रकाश जी प्रमुख हैं। दोनों ही अपने पारस्परिक सम्बन्ध को 'जीवन की एक अत्यन्त मूल्यवान् निधि' समझते थे।

स्वतन्त्रता-संघर्ष

सन् १९२३ में कांग्रेस के एक दल ने स्वराज्य पार्टी बनाई और लेजिस्लेटिव कौंसिलों के चुनावों में हिस्सा लिया। यद्यपि आचार्यजी कौंसिलों के अन्दर से स्वराज्य के लिये संघर्ष करने के पक्ष में थे, पर उन्होंने स्वयं चुनाव में हिस्सा नहीं लिया, विद्यापीठ में ही देश की सेवा करते रहे। जब सन् १९२७ में पूर्ण स्वराज्य की मांग को बल देने के लिए 'इंडिपेंडेंस आफ इण्डिया लीग' बनी, तब वे उसमें शामिल हो गये, और जब सन् १९३० में कांग्रेस ने गांधीजी के नेतृत्व में सविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू किया तब उस आन्दोलन में जुट गये। प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के स्थानापन्न मन्त्री की हैसियत से उन्होंने विद्यापीठ के प्राध्यापकों, संचालकों और विद्यार्थियों की सहायता और सहयोग से सन् १९३० के नमक सत्याग्रह और सन् १९३२ के सविनय अवज्ञा

आन्दोलन का संयुक्त प्रान्त में संचालन किया और अपने नेतृत्व की क्षमता के लिये ख्याति प्राप्त की।

इस जमाने में जून सन् १६३० में आचार्य नरेन्द्र देव बाबू शिवप्रसाद गुप्त और बाबू पुरुषोत्तमदास जी टंडन के साथ बस्ती में गिरफ्तार किये गये और उन्हें तीन मास की सजा भुगतनी पड़ी। २८ अक्टूबर सन् १९३२ को वे फिर सविनय अवज्ञा आन्दोलन के सिलसिले से एक डिक्टेटर की हैसियत से बनारस में गिरफ्तार हुए और उन्हें एक वर्ष की कैद और २०० रुपये जुर्माने की सजा हुई। बस्ती जेल का जलवायु बहुत खराब था। जेल में नरेन्द्र देवजी बीमार पड़ गये, उन्हें दमे के दौरे शुरू हो गये। इस बार दमे की बीमारी ने उन्हें ऐसा घर दबाया कि फिर जिन्दगी भर उससे छुटकारा ही नहीं मिला। बनारस जेल में भी नरेन्द्र देवजी का स्वास्थ्य बिगड़ता ही गया। दमे के दौरे उन्हें बराबर सताते रहे, उनकी बीमारी और कमजोरी बढ़ती ही गयी। तिस पर भी जेल में फ्रांसीसी भाषा का समुचित अध्ययन कर बौद्ध दर्शन के प्रसिद्ध ग्रन्थ अभिधम्म कोश का फ्रांसीसी भाषा से अंग्रेजी और हिन्दी में वे अनुवाद करते रहे।

समाजवादी आन्दोलन

अठारहवीं शताब्दी की फ्रांसीसी क्रान्ति के बाद सन् १६१७ की रूसी क्रांति को ही आचार्यजी सबसे बड़ी ऐतिहासिक घटना मानते थे। वे रूसी क्रान्ति से काफी प्रभावित थे। सन् १६१६ में ही उन्होंने समाजवाद और रूसी क्रांति पर बहुत तत्परता से पुस्तकें पढ़नी शुरू कीं और लगभग दो वर्ष में उन्होंने इनके सम्बन्ध में प्रायः सभी उपलब्ध मुख्य-मुख्य ग्रंथ पढ़ लिये। सन् १९२८ में उन्होंने विद्यापीठ की पत्रिका में सोवियत रूस की एशिया सम्बन्धी नीति पर एक सुन्दर लेख लिखा। वे मार्क्स, एंगिल्स तथा रोजा लक्जमबर्ग के साथ-साथ लेनिन से भी बहुत प्रभावित थे। पर स्तालिन की नीति और कार्यविधि उन्हें पसन्द नहीं थी। उनका विचार था कि स्तालिन ने मार्क्सवाद के सिद्धान्तों को भ्रष्ट कर दिया है। भारतीय कम्युनिस्टों के अनैतिक व्यवहार से वे बहुत असन्तुष्ट थे। सन् १६२८ में कम्युनिस्टों का यह निर्णय कि कांग्रेस को मध्यम श्रेणी की संस्था समझ कर उससे अलग

हो जाया जाय, आचार्यजी को मार्क्सवाद के सिद्धान्तों के बिलकुल प्रतिकूल दिखाई पड़ता था। इसीलिए मार्क्सवाद पर विश्वास रखते हुए भी जहां कम्युनिस्टों ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन का विरोध किया, वहां आचार्यजी ने उसमें हिस्सा लिया।

दूसरे सविनय अवज्ञा आन्दोलन के विफल होने पर नरेन्द्र देवजी की यह धारणा बन गयी कि राष्ट्रीय आन्दोलन को सफल बनाने के लिये उसे अधिक व्यापक बनाना होगा। उनकी धारणा थी कि निम्न मध्यम श्रेणी के युवकों की कुर्बानी से ही स्वराज्य प्राप्त नहीं हो सकता, राष्ट्रीय-संघर्ष में किसानों और मजदूरों को भी शामिल करना होगा। उनके विचार में राष्ट्र के स्वतंत्रता-संघर्ष को किसानों और मजदूरों के आर्थिक संघर्षों से जोड़ना बहुत जरूरी था। उनका कहना था कि जब किसानों और मजदूरों को पता चलेगा कि स्वराज्य के साथ-साथ उन्हें आर्थिक आजादी हासिल होगी, उनका शोषण और दमन खत्म होगा, उन्हें सुख और आजादी की जिन्दगी बसर करने का अवसर मिलेगा, तब वे स्वतंत्रता-संघर्ष में हिस्सा लेंगे और तब उस संघर्ष में शक्ति आयेगी। उनका यह भी विचार था कि हमें राष्ट्रीयता और समाजवाद दो युगों का काम साथ-साथ करना है।

इन तमाम बातों को ध्यान में रखते हुए उन्होंने दूसरे अनेक साथियों के साथ मार्क्सवाद के मानवीय और जनतान्त्रिक सिद्धान्तों के आधार पर समाजवादी आन्दोलन शुरू करने का निश्चय किया। मई सन् १९३४ में पटना में समाजवादी कन्वेंशन आचार्यजीकी अध्यक्षता में हुआ, जिसमें कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी बनाने का निश्चय किया गया। आचार्यजी ने इस बात पर जोर दिया कि समाजवादी समाज बनाने के साथ-साथ पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करना भी इस पार्टी का लक्ष्य हो और जब तक देश आजाद नहीं होता तब तक आजादी के प्रश्न को काफी प्रमुखता दी जाय। यह भी निश्चय हुआ कि कांग्रेस के सदस्य ही इस पार्टी के सदस्य बनाये जाएं और इस पार्टी में सक्रिय कार्यकर्ता ही शामिल किये जाएं। इस पार्टी के मंत्रित्व का भार श्री जयप्रकाश-नारायण ने संभाला। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी कम्युनिस्टों से सहयोग करने को तैयार थी, सन् १९३६ में उसने कम्युनिस्टों के लिए पार्टी का दरवाजा भी खोल दिया, श्री नम्बूदरीपाद को अपना संयुक्त मंत्री भी

चुना, कई कम्युनिस्टों को अपनी राष्ट्रीय कार्यसमिति का सदस्य भी चुना। पर कम्युनिस्टों का दिल साफ नहीं था। वे पार्टी को मंच की शक्ल देना चाहते थे, उसके द्वारा कम्युनिज्म का प्रचार करते थे। अतः सन् १९३९ में सहयोग की प्रक्रिया बन्द कर देनी पड़ी।

समाजवादी सिद्धान्तों तथा नीति-रीति को स्पष्ट करना, उसकी पृष्ठभूमि में कांग्रेस की गतिविधि की समीक्षा करना, राष्ट्र की विभिन्न समस्याओं का गूढ़ अध्ययन कर उनका समाजवादी क्रान्तिकारी हल ढूंढ़ना, कांग्रेस के एके को अक्षुण्ण बनाये रखते हुए उसे अधिक गतिशील तथा राजनीतिक और आर्थिक क्रान्ति का उपकरण बनाना नरेन्द्र देव का मुख्य कार्य था। मार्क्सवाद के मूल सिद्धान्तों का विश्लेषण, उनके आधार पर जनतान्त्रिक समाजवाद का प्रतिपादन, देश के विभिन्न राजनीतिक दलों और विचारधाराओं की समीक्षा, विद्यार्थियों और नवयुवक कार्यकर्ताओं का प्रशिक्षण, तथा किसानों के हितों की पुष्टि एवं समाजवादी शक्तियों का संगठन नरेन्द्र देवजी के दूसरे मुख्य कार्य थे। अपनी विद्वत्ता, स्वाधीनता तथा समाजवाद के प्रति अपनी निष्ठा, क्रान्तिकारी भावना और राष्ट्र-सेवा के बल पर उन्होंने इन सब कार्यों को शक्ति भर सम्पन्न किया। समाजवादी आन्दोलन के सिलसिले से जिन व्यक्तियों से उनके विशेष रूप से घनिष्ठ सम्बन्ध हो गये थे उनमें सर्वश्री जयप्रकाश नारायण, मेहरअली, राममनोहर लोहिया और अच्युत पटवर्धन प्रमुख थे। साथी गंगा शरण सिंह से भी आगे चल कर उनके बहुत गहरे सम्बन्ध हो गये थे।

नेतृत्व

सन् १९३६ में मित्रों के आग्रह पर नरेन्द्र देवजी ने संयुक्त प्रांत की कांग्रेस का अध्यक्ष बनना स्वीकार कर लिया और पण्डित जवाहरलाल नेहरू के आग्रह पर साथी अच्युत पटवर्धन के साथ वे कांग्रेस की वर्किंग कमेटी के सदस्य बन गये। सन् १९३७ में उन्होंने कांग्रेस पार्टी की ओर से प्रान्तीय विधानसभा के लिए चुनाव लड़ा और उसकी सदस्यता की। पर जब कांग्रेस ने निश्चित किया कि मन्त्रिमण्डल भी बनाये जायं, तब उन्होंने और कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी ने इसका बहुत विरोध किया और बहुत आग्रह करने पर भी उन्होंने मंत्रिपद को स्वीकार नहीं किया।

उनका और उनकी पार्टी का निश्चित मत था कि स्वतंत्रता-संघर्ष के जमाने में कांग्रेस के लिए मंत्रिमण्डल बनाना सर्वथा अनुचित है।

विधान सभा में आचार्य नरेन्द्र देव ने कांग्रेस की प्रगतिशील नीति-रीति तथा समाजवाद को पुष्ट करते हुए सामन्तशाही विरोधी पक्ष का डट कर विरोध किया। उन्होंने कहा कि "समाजवाद ही जनतन्त्र का पोषक है" "आर्थिक जनतन्त्र के बिना राजनीतिक जनतन्त्र निकम्मा है", जमीन क़ुदरत की दौलत है और वह उसकी मिलकियत है जो उसको तरक्की देता और कामयाबी के साथ जोतता बोता है"। पूर्ण-स्वराज्य तथा संविधान सभा की मांग का समर्थन करते हुए उन्होंने कहा कि "देश की आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था के निर्माण में ब्रिटिश पार्लियामेंट का हस्तक्षेप स्वीकार नहीं हो सकता" और "ब्रिटेन से संवैधानिक सम्बन्ध विच्छेद करना ही होगा।

सन् १९३८ में आचार्यजी प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा समिति के तथा लखनऊ और प्रयाग विश्वविद्यालयों की जाँच उपसमिति के अध्यक्ष नियुक्त हुए और इन कमेटियों ने युक्तप्रान्त की शिक्षा पद्धति में सुधार के लिए कई महत्त्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किये।

यद्यपि सन् १९३९ के त्रिपुरी-अधिवेशन के बाद वे कांग्रेस की वर्किंग कमेटी के सदस्य नहीं रहे, पर सन् १९४८ तक वे उसकी बैठकों में विशेष आमन्त्रित की हैसियत से भाग लेते रहे और अपने विचारों द्वारा कांग्रेस की नीति-रीति को प्रभावित करते रहे। संयुक्तप्रान्त की राजनीति में तो उनका विशिष्ट स्थान था। प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी में उनके पक्ष का बहुमत था। संयुक्तप्रान्त की कांग्रेस अपनी प्रगतिशीलता के लिए प्रसिद्ध थी। इसका मूल कारण तो किसानों की बेचैनी और हलचल थी। पर इसमें नरेन्द्र देवजी का भी भरपूर हाथ था। उन्होंने कांग्रेस के अन्दर कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी बना कर, उसके द्वारा समाजवादी दर्शन के सिद्धान्तों का प्रसार कर कांग्रेस के अन्दर समाजवादी शक्तियों को पुष्ट किया और दूसरे प्रगतिशील तत्त्वों से उसका सम्बन्ध जोड़ कांग्रेस को नयी गति प्रदान की और कांग्रेस के सिद्धान्तों और कार्यप्रणाली में क्रान्तिकारी परिवर्तन कराने का भरसक प्रयत्न किया। उन्होंने नवयुवकों को क्रांतिकारी राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा समाजवादी नेतृत्व प्रदान करते हुए उन्हें कांग्रेस के व्यापक नेतृत्व में देश की स्वतन्त्रता के लिए सतत् प्रयत्न करने को प्रोत्साहित किया।

सन् १९३९ में आचार्य नरेन्द्र देवजी ने अखिल भारतीय किसान सभा के गया सम्मेलन की अध्यक्षता की। अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने किसान सभाओं और कांग्रेस संगठनों के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों पर जोर दिया और कहा कि जहां औपनिवेशिक शोषण और आधिपत्य से मुक्ति की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुये किसान सभाओं को राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के प्रतीक और साम्राज्य-विरोधी संघर्ष के प्रमुख उपकरण कांग्रेस के साथ सहयोग करना चाहिये, वहां कांग्रेस को भी समझना चाहिये कि किसान सभाओं के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार और राष्ट्रीय आधार पर उनका विकास ही देश की प्रगति के हित में है।

इस गया अधिवेशन में किसान सभा ने नरेन्द्र देवजी के नेतृत्व में निश्चय किया कि कांग्रेस को उसके साम्राज्यविरोधी संघर्ष में किसान सभाओं द्वारा सहयोग प्रदान किया जाय और इस तरह देश में एक स्वतन्त्र जनतान्त्रिक राज्य स्थापित किया जाय। उसने निश्चय किया कि किसानों के दिन प्रतिदिन के संघर्षों को एक बृहद् साम्राज्यविरोधी संघर्ष में तथा कृषिक्रान्ति में परिपक्व किया जाय, जिसके द्वारा किसान अपनी जमीन के मालिक बन जायं, राज्य और किसानों के बीच के सब मध्यवर्ती शोषकों के शोषण का अन्त हो, कर्जे के बोझ से किसानों का छुटकारा हो और वे अपने श्रम के लाभ का पूरा-पूरा उपभोग कर सकें।

इस सम्मेलन ने निश्चय किया कि किसानों के राजनीतिक संघर्षों को तीव्र किया जाय, सरकार द्वारा आयोजित भारतीय संघ व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष की आवश्यकता की जानकारी किसानों को करायी जाय, आने वाले देशव्यापी संघर्ष के औचित्य का उनमें प्रचार किया जाय तथा कांग्रेस, अखिल भारतीय किसान सभा, अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस और दूसरे साम्राज्य विरोधी संगठनों का एक संयुक्त मोर्चा बनाया जाय।

विश्वयुद्ध

जब सन् १९३९ में दूसरा विश्वयुद्ध शुरू हुआ, तब कांग्रेस ने मांग की कि ब्रिटिश सरकार युद्ध के लक्ष्य को घोषित करे और हिन्दुस्तान की आजादी को तसलीम करे। उसका निश्चित मत था कि आजाद हिन्दुस्तान ही इस वायदे पर कि फासिस्टवाद और नाजीवाद के साथ-साथ साम्राज्यशाही का भी अन्त होगा इस विश्वयुद्ध में ब्रिटिश

सरकार का साथ दे सकता है। पर जब ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस की बात नहीं मानी तब कांग्रेस मंत्रिमण्डलों ने इस्तीफा दे दिया। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का आग्रह था कि स्वतंत्रता-संघर्ष तुरंत शुरू कर दिया जाय। पर उसकी धारणा थी कि देशव्यापी संघर्ष कांग्रेस के तत्त्वावधान में गांधी जी के नेतृत्व में ही हो सकता है। वे इसलिए गांधी जी पर संघर्ष शुरू करने के लिए दबाव डालते थे, पर वामपक्षी एकता के नाम पर कांग्रेस में विघटन की परिस्थिति पैदा करना नहीं चाहते थे। कांग्रेस को साम्राज्य-विरोधी मंच बनाये रखना वे जरूरी समझते थे। कांग्रेस की लड़ाकू मनोवृत्ति का दम न घुट जाय, पर साथ ही उग्र विचार के लोग अधीरतावश साम्राज्य-विरोधी लड़ाई में फूट न पड़ने दें यही आचार्यजी के नेतृत्व के दो प्रमुख सिद्धान्त थे। वे कांग्रेस को गतिशील बनाने के लिए वामपक्ष के समर्थकों में आत्मनियन्त्रण जरूरी समझते थे।

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए आचार्यजी ने एक तरफ श्री एम० एन० राय की समझौता नीति का और दूसरी तरफ कांग्रेस के बाहर उसके आदेश के विपरीत समझौता-विरोधी सम्मेलन तथा संग्राम-समिति के संघटन का विरोध किया। उनका कहना था कि जहां संघर्ष को टाल कर कांग्रेस को अधिक गतिशील और क्रान्तिकारी नहीं बनाया जा सकता, वहां साम्राज्यविरोधी कांग्रेस के मंच को कमजोर करके भी साम्राज्यविरोधी शक्तियों को सबल नहीं बनाया जा सकता।

जब सन् १९४० में गांधी जी ने भाषण की स्वतंत्रता के नाम पर व्यक्तिगत सत्याग्रह शुरू करने का निश्चय किया, तब नरेन्द्र देवजी ने अपने वक्तव्य में कहा कि संघर्ष भाषण की स्वतंत्रता के बजाय देश की स्वतंत्रता के लिए किया जाना चाहिये था और व्यक्तिगत सत्याग्रह से काम नहीं चल सकता। वे जन-सत्याग्रह के पक्ष में थे। पर उन्होंने यह भी साफ कर दिया कि जिस रूप में भी कांग्रेस और गांधीजी आन्दोलन चलायेंगे उसमें वे और उनकी पार्टी के दूसरे सदस्य शामिल होंगे। गांधीजी के आदेश पर उन्होंने संयुक्त प्रान्त में व्यक्तिगत सत्याग्रह के संचालन का भार ग्रहण किया और उसका संचालन करते हुए वे जेल गये, जहां उन्हें बीमारी के कारण बहुत कष्ट सहन करना पड़ा।

सन् १९४१ में रूस और जर्मनी के बीच युद्ध छिड़ गया और रूस ब्रिटेन का मित्र बन गया। इसके कुछ दिन बाद ही रूसी नेताओं के मशविरे पर भारत के कम्युनिस्टों ने घोषित किया कि अब विश्वयुद्ध साम्राज्यशाही युद्ध के बजाय जनयुद्ध बन गया है और अब हिन्दुस्तानियों को अपना स्वतंत्रता-संघर्ष बन्द करके युद्ध में ब्रिटेन की मदद करना चाहिये। आचार्य जी ने कम्युनिस्टों के इन विचारों का विरोध किया। उनकी धारणा थी कि जब तक हिन्दुस्तान आजाद नहीं होता तब तक हिन्दुस्तानियों के लिये विश्वयुद्ध साम्राज्यशाही युद्ध है और उन्हें युद्ध के जमाने में अपनी स्वतंत्रता का संघर्ष जारी रखना जरूरी है। इसलिए जब सन् १९४२ में गांधीजी ने 'भारत छोड़ो' आन्दोलन शुरू करने का विचार किया और इसके सम्बन्ध में आचार्यजी से बातचीत की तब उन्होंने इस आन्दोलन का समर्थन किया। ९अगस्त सन् १९४२ को अहमदनगर के किले में वे नजरबन्द कर दिये गये।

अहमदनगर के किले में बीमारी के कारण नरेन्द्र देवजी को बहुत कष्ट सहन करना पड़ा। पहले एक वर्ष तक तो हर तीसरे सप्ताह उन्हें दमे का दौरा हो जाता था जिसके कारण कमजोरी बहुत बढ़ गई थी। बाद को श्री जवाहर लाल नेहरू के मशवरे से उन्होंने 'हैली बोराल' लेना शुरू किया। इससे दौरे पड़ना बन्द हुए और कमजोरी कुछ दूर हुई। जब नरेन्द्र देवजी जरा ठीक हुए, तब उन्होंने 'अभिधम्म कोश' का अनुवाद करना शुरू किया। जेल में नेहरू जी के पास बहुत सी किताबें आती थीं। आचार्यजी ने इनमें से बहुत सी किताबों को पढ़ा। नेहरूजी जेल में 'डिस्कवरी आफ इन्डिया' पुस्तक लिख रहे थे। इस पुस्तक के जिन अध्यायों का सम्बन्ध प्राचीन भारतीय दर्शन और संस्कृति से था उनके लिखने में नरेन्द्र देवजी का काफी योग था। जेल में ही नरेन्द्र देवजी ने श्री शंकर राव देव से वायदा किया कि 'अभिधम्म कोश' के अनुवाद के बाद वे बौद्ध धर्म और दर्शन पर ऐसी पुस्तक लिखेंगे जिसके पढ़ने से बौद्ध दर्शन की विभिन्न शाखाओं प्रशाखाओं का ज्ञान एक साथ हो सके।

२—राष्ट्र निर्माण

१४ जून सन् १९४८ को वाइसराय लार्ड वेवल ने घोषित किया कि अन्तः कालीन निर्माण के सम्बन्ध में २९ जून को शिमला में सर्वदलीय कान्फ्रेन्स बुलाई जायगी। १८ जून सन् १९४९ को कांग्रेस की राष्ट्रीय कार्य समिति के सब सदस्य तथा आचार्य नरेन्द्र देव आदि कुछ दूसरे प्रमुख नेता रिहा कर दिये गये। कान्फ्रेन्स में कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच में अन्तःकालीन सरकार के सम्बन्ध में कोई समझौता नहीं हो सका और १४ जुलाई को समझौते की विफलता घोषित कर दी गयी। कान्फ्रेन्स के दौरान में ही ४ जुलाई को ब्रिटेन में पार्लियामेन्ट के चुनाव हुए। इस चुनाव में कंजरवेटिव पार्टी की हार हुई और ८ जुलाई को लेबर पार्टी की सरकार बन गयी। सम्मेलन के बाद वाइसराय ने घोषणा की कि जाड़ों में केन्द्रीय और प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के चुनाव होंगे। १४ सितम्बर को वाइसराय ने घोषित किया कि चुनाव के बाद शीघ्र ही एक संविधान-निर्मात्री सभा आयोजित की जायगी। उन्होंने यह भी घोषित किया कि 'सम्राट की सरकार उस सन्धि के विषय पर भी विचार कर रही है जिसका ब्रिटेन और भारत के बीच में होना आवश्यक है।' कुछ दिन बाद ही जनवरी सन् १९४६ को ब्रिटेन की मजदूर सरकार ने पार्लियामेन्ट के कतिपय सदस्यों का एक शिष्टमण्डल हिन्दुस्तान भेजा। उसके कुछ ही दिन बाद मार्च सन् १९४६ को भारत मंत्री लार्ड पैथिक लारेंस की अध्यक्षता में भारत की राजनीतिक समस्या हल करने के लिये एक केबिनेट मिशन दिल्ली आया।

कैबिनेट मिशन

केबिनेट मिशन विभिन्न दलों और हितों की राय से ही भावी राजनीतिक व्यवस्था निश्चित करने की योजना तैयार करना चाहता था। पर कांग्रेस, मुस्लिम लीग आदि दलों में कोई समझौता न होने के कारण केबिनेट मिशन ने स्वयं ब्रिटिश सरकार की तरफ से दीर्घकालीन और अल्पकालीन योजना घोषित की। जहां दीर्घकालीन योजना में संविधान

के कतिपय सिद्धान्त और संविधान सभा की रूप रेखा निश्चित की गयी थी, वहां अल्प कालीन योजना में मध्य कालीन सरकार की व्यवस्था थी। केबिनेट मिशन की योजनाएं कांग्रेस को पसन्द नही थीं, पर बहुत सोचने विचारने के बाद उसने इन दोनों योजनाओं को स्वीकार कर संविधान सभा और अन्तरिम सरकार में शरीक होना मंजूर कर लिया।

विघटन

पाकिस्तान के प्रश्न पर मुस्लिम लीग दृढ़ रही। उसने केबिनेट मिशन की दीर्घ कालीन योजना मानने से इनकार कर दिया, गो कुछ सोचने के बाद वह केबिनेट मिशन की अल्प कालीन योजना के अन्तर्गत मध्यकालीन सरकार में शरीक हो गयी। जिस समय वाइसराय वेवल ने मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियों को मध्य कालीन सरकार में शरीक किया, उस समय उन्हें आशा थी कि आगे चलकर मुस्लिम लीग दीर्घकालीन योजना को स्वीकार कर संविधान सभा में भी भाग लेने को राजी हो जायगी। पर मुस्लिम लीग संविधान सभा का बहिष्कार करती रही और मध्यकालीन सहकार में उसके प्रतिनिधियों ने कांग्रेस के प्रतिनिधियों से सहयोग कर सम्मिलित जिम्मेदारी के आधार पर केन्द्र का शासन चलाने के बजाय अपनी खिचड़ी अलग पकाना शुरू की और अपनी गति-विधि से मध्यकालीन सरकार को पंगु बना डाला। ऐसी परिस्थिति में वाइसराय लार्ड माउन्ट बेटन की राय से कांग्रेस ने देश का बटवारा मंजूर कर लिया। ३ जून सन् १९४७ को सरकार की ओर से इसकी घोषणा हो गई और १५ अगस्त को देश दो हिस्सों में बट गया।

आचार्यजी मुस्लिम राष्ट्र के सिद्धान्त को गलत समझते थे और वे देश के बटवारे के विरुद्ध थे। उनकी राय में धर्म के आधार पर राष्ट्र नहीं होते, मुसलमान पृथक राष्ट्र नहीं है और पाकिस्तान की योजना देश के लिये आत्मघातक है। उनकी धारणा थी कि देश के बटवारे का फैसला केवल धार्मिक अल्पसंख्यकों पर नहीं छोड़ा जा सकता और सामान्य आर्थिक हितों के लिये सामान्य संघर्ष के जरिए देश की हिन्दू और मुसलमान जनता में एका स्थापित किया जा

सकता है। पर जब सन् १९४७ में कांग्रेसी नेताओं ने मुस्लिम राष्ट्र के सिद्धान्त को नामंजूर करते हुए देश के बटवारे के सम्बन्ध में मुस्लिम लीग के नेताओं से समझौता कर लिया, तब अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में वे अपने दूसरे समाजवादी साथियों के साथ तटस्थ रहे। उनका कहना था कि हिन्दचीन और इंडोनेशिया के नेताओं की तरह कांग्रेस के नेताओं को भी ब्रिटिश सरकार से समझौते की बात करते हुए क्रांन्ति के वातावरण को बनाये रखने की चेष्टा करनी चाहिये थी, ताकि अनुकूल समझौता न होने पर संघर्ष शुरू किया जा सकता। पर जब कांग्रेस के नेताओं ने इस बात की फिक्र न की, एकमात्र समझौते का रास्ता अपना कर क्रान्ति का वातावरण नष्ट कर दिया और मुस्लिम लीग के नेताओं से देश के बटवारे का समझौता कर लिया जिसे ब्रिटिश सरकार और मुस्लिम लीग की कौंसिल ने भी स्वीकार कर लिया और जिसके अनुसार कार्य भी आरम्भ हो गया, तब ऐसी स्थिति में इस योजना को नामंजूर करने से दशा सुधरने के बजाय बिगड़ती, देश को भयंकर गृहयुद्ध का सामना करना पड़ता और देश की प्रगति खत्म हो जाती। चूंकि सोशलिस्टों के लिए बटवारे के आत्मघातक सिद्धान्त को स्वीकार करना या भयंकर गृहयुद्ध की जिम्मेदारी लेना दोनों ही गलत था, अतः अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में तटस्थ रहना ही उन्होंने ठीक समझा।

संविधान सभा

फरवरी सन् १९४६ को आचार्य नरेन्द्रदेव ने लिखा था कि 'हम उस संविधान सभा में शामिल नहीं होंगे जो जनता की आकांक्षाओं को प्रतिबिम्बित और प्रतिनिधित्व करने का प्रयत्न नहीं करती और जो प्रभुसत्ता-सम्पन्न नहीं है। हम दूसरों से निर्देशित होना नहीं चाहते और संविधान के निर्माण में जनता के सर्वाधिकार पर किसी प्रतिबन्ध को सहन करने को तैयार नहीं हैं'। पर जब सोशलिस्टों के विरोध के बावजूद कांग्रेस ने कुछ प्रतिबन्धों के साथ संविधान सभा में जाना स्वीकार कर लिया, तब नरेन्द्र देवजी आदि बहुत से कांग्रेस सोशलिस्टों ने जनता की आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करने के लिये संविधान सभा में जाना भी उचित समझा। पर श्री अच्युत पटवर्धन अपने विरोध पर

डटे रहे। उनका कहना था कि प्रतिबन्धों के होते हुए जनता के स्थान पर विधान सभाओं द्वारा चुनी संविधान सभा में जाना सिद्धान्ततः गलत होगा। उनके आग्रह पर कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी ने संविधान सभा का बहिष्कार कर दिया। १५ अगस्त सन् १९४७ को भारत के स्वतन्त्र होने के बाद सोशलिस्टों के संविधान सभा में शामिल होने के प्रश्न पर श्री जयप्रकाश नारायण की पण्डित जवाहरलाल नेहरू से बातचीत हुई। पर कोई नतीजा नहीं निकला। श्री अच्युत पटवर्धन स्वीकार करते हैं कि संविधान सभा के बहिष्कार के सम्बन्ध में उनका आग्रह सिद्धान्ततः सही होते हुए भी व्यवहारिक दृष्टि से गलत था।

जमींदारी प्रथा का उन्मूलन

८ अगस्त सन् १९४६ को संयुक्त प्रान्त की विधान सभा ने एक प्रस्ताव द्वारा जमींदारी प्रथा को, जिसमें काश्तकारों और राज्य के बीच के सब मध्यवर्ती शामिल थे, खत्म करने के सिद्धान्तों को स्वीकार किया और निश्चय किया कि मध्यवर्तियों के हकों को मुआवजा देकर हासिल कर लिया जाय। सन् १९४८ में इस कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई और कुछ अर्से बाद अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा नियुक्त कृषि-सुधार कमेटी लखनऊ गयी। आचार्य नरेन्द्र देव ने जमींदारी उन्मूलन तथा कृषि व्यवस्था के सुधार में काफी दिलचस्पी ली, जमींदारी उन्मूलन कमेटी को स्मृति पत्र भेजा, उस कमेटी की रिपोर्ट तथा उस पर आधारित विधेयक की आलोचना की तथा कृषि सुधार के सम्बन्ध में जनता तथा कृषि-सुधार समिति के सामने सुझाव रखे। आचार्यजी ने जमींदारी उन्मूलन कमेटी की रिपोर्ट की समीक्षा करते हुए कहा कि कमेटी की सिफारिशें विधान सभा के मन्तव्य को ठीक तौर पर पूरी नहीं करतीं और उन्हें प्रगतिशील नहीं कहा जा सकता। उनके विचार में जमींदारी उन्मूलन विधेयक तो रिपोर्ट की तुलना में भी प्रतिगामी है। आचार्यजी की राय में 'सरकार और कृषकों यानी जमीन जोतने वालों के बीच कोई मध्यवर्ती लोग न हों, जमीन के पुनर्वितरण का अधिकार तुरन्त सरकार अपने हाथ में ले, और पुनर्वितरण के बाद किसी हाथ में तीस एकड़ से अधिक जमीन न हो।' सामूहिक खेती का विरोध करते हुए उन्होंने सहकारी खेती को प्रोत्साहित करने का मशवरा दिया।

मुआवजे का सिद्धान्ततः विरोध करते हुए उन्होंने छोटे जमींदारों के पुनर्वास का समर्थन किया। उन्होंने कृषि सुधार कमेटी से कहा कि यदि सरकार मुआवजा देना ही चाहे तो यह नियम बनाया जाय कि किसी को एक लाख रुपये से अधिक नहीं दिया जायगा और जिन मालिकों को दस हजार रुपये से अधिक मुनाफा मिलता है उन्हें मुनाफे की तिगुनी रकम ही दी जायगी। आचार्यजी ने विधेयक द्वारा दसगुने लगान की वसूली की व्यवस्था का विरोध किया और मांग की कि किसानों को चार वर्गों यानी भूमिधर, सीरदार, अधिवासी और असामी में विभाजित न किया जाय, शिकमी काश्तकारों के हकों को तसलीम किया जाय, बेदखलियां बन्द की जायं और छोटे किसानों को लगान में काफी छूट दी जाय।

समाजवाद का प्रचार

१८ जून सन् १९४५ को अल्मोड़ा जेल से छूटने के बाद ही नरेन्द्र देवजी ने शोषित जनता के संगठन और उनकी आर्थिक समस्याओं पर, जनतन्त्र के समाजवादी स्वरूप की व्याख्या पर, नवयुवकों की सामाजिक चेतना पर तथा समाजवादी आन्दोलन को सुदृढ़ बनाने पर जोर देना शुरू कर दिया। समाजवादी विचारों तथा दृष्टिकोण को व्यापक बनाकर समाजवादी आन्दोलन को सुदृढ़ बनाने के निमित्त वे एक देशव्यापी दौरा भी करना चाहते थे और इस उद्देश्य से वे मद्रास गये भी, पर वहां बीमार पड़ जाने पर उन्हें दौरा करने का इरादा छोड़ना पड़ा तथा लेखों और वक्तव्यों द्वारा ही उन्हें अपने विचारों को प्रसारित करना पड़ा। फिर भी सन् १९४६ के प्रारम्भ में डालमियां-नगर में मजदूरों की हड़ताल के निपटारे के लिए वे मजदूरों और मालिकों दोनों की ओर से पंच नियुक्त हुए और उन्होंने उनकी पंचायत की। मई-जून सन् १९४६ में उनकी प्रेरणा से देहरादून में एक समाजवादी शिक्षण शिविर भी आयोजित हुआ जिसमें लगभग एक सौ कार्यकर्ताओं ने एक मास समाजवाद तथा भारत की प्रमुख समस्याओं का अध्ययन किया।

प्रगतिशील और समाजवादी विचारों के प्रसार के लिये नरेन्द्र देवजी ने लखनऊ से साप्ताहिक 'संघर्ष' को फिर से निकालने का प्रबन्ध किया

और काशी से मासिक 'जनवाणी' को भी निकालना शुरू किया। ये दोनों पत्र पांच छः वर्ष तक चलते रहे, फिर धन के अभाव के कारण बन्द हो गये। दोनों पत्रों के सम्पादक मण्डलों में नरेन्द्र देवजी का प्रमुख स्थान था। वही इनके प्राण थे, उन्हीं की प्रेरणा और सहयोग से सब काम होता था। इन पत्रों में समाजवादी सिद्धान्तों और देश की समस्याओं तथा विदेश की परिस्थितियों पर नरेन्द्र देवजी स्वयं अपने विचार व्यक्त करते और अपने मित्रों को लिखने के लिए प्रोत्साहित करते थे। 'जनवाणी' ने हिन्दी मासिक पत्रिकाओं में काफी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था।

अन्तर्राष्ट्रीय जगत

नजरबन्दी से रिहा होने के बाद नरेन्द्र देवजी ने अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर कई लेख और टिप्पणियां पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराईं। इन लेखों में उन्होंने एशिया के स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास, अमरीका तथा हिन्दचीन में कम्युनिस्ट पार्टी का व्यवहार, यूरोप की स्थिति तथा अन्तर्राष्ट्रीय हलचल, फासिज्म का वास्तविक रूप, तथा मिश्र, इराक, और इन्डोनेशिया आदि देशों की राजनीतिक स्थिति आदि अनेक विषयों का सारगर्भित विश्लेषण किया। पेरिस के शान्तिसम्मेलन की गतिविधि का विश्लेषण करते हुए उन्होंने लिखा कि जहां नाजियों को दण्ड देना, उनके प्रभाव को नष्ट कर देना जरूरी है, वहां समस्त जर्मन जाति को दण्ड देना न्याय संगत नहीं होगा। लोगों को अपने देश से बहिष्कृत करना और उनसे गुलामों की तरह काम लेना अन्याय ही होगा। उनका कहना था कि "जर्मनी को बर्बाद कर, उसकी आर्थिक पद्धति को छिन्न-भिन्न कर उसके टुकड़े-टुकड़े कर यूरोप सुख की नींद नहीं सो सकेगा।"

संयुक्तराज्य अमरीका की नयी साम्राज्यशाही नीति की कड़ी आलोचना करते हुए नरेन्द्र देवजी ने लिखा कि अमेरिका जो लोकतांत्रिक होने का दावा करता है 'सर्वत्र प्रतिक्रिया का ही समर्थन कर रहा है।' 'यदि अमेरिका की जीवन प्रणाली का आधार लोकतंत्र और स्वतन्त्रता है तो अमेरिका को संसार की प्रगतिशील शक्तियों का नेतृत्व करना चाहिये'। उसे समझना चाहिए कि 'आज यूरोप और एशिया के

आर्थिक जीवन में क्रान्ति हो रही है। इसके साथ योग देने से, न कि इसका विरोध करने से, अमेरिका का उद्देश्य सिद्ध हो सकता है। किन्तु क्रान्ति से सहयोग करने का अर्थ होता है यूरोप में समाजवाद का समर्थन करना और पुराने प्रतिगामी और लोकतन्त्र-विरोधी शासकों का अन्त करना।' पर इसके विपरीत अमेरिका के व्यवहार से तो 'स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र के नाम पर एक नये साम्राज्यवाद का जन्म हो रहा है।'

नरेन्द्र देवजी ब्रिटेन और सोवियत रूस की गतिविधि और कूटनीतिज्ञता से भी असन्तुष्ट थे। उस समय ब्रिटेन में मजदूर-सरकार और सोवियत रूस में कम्युनिस्ट सरकार का शासन था। नरेन्द्र देव आशा करते थे कि ये सरकारें किसी बुनियादी सिद्धान्तों के आधार पर अपनी अन्तर्राष्ट्रीय नीति निर्धारित कर उसके अनुसार स्थायी शान्ति और सामाजिक न्याय के निमित्त काम करेंगे। पर उन्हें दुःख था कि ये दोनों सरकारें ऐसा नहीं कर रही थीं। उन्होंने बड़े सन्तप्त हृदय से लिखा कि 'जिस प्रकार इंगलैण्ड की कोई स्थायी वैदेशिक नीति नहीं है, जो सिद्धान्तों पर आधारित हो, उसी प्रकार रूस की नीति किसी सिद्धान्त पर आश्रित नहीं है।' वे चाहते थे कि 'रूस राजनीति के दांव पेंच को छोड़ कर एक स्थायी शान्ति के लिये प्रयत्नशील हो।'

कम्युनिस्ट रूस तथा ब्रिटेन की सोशलिस्ट सरकार की वैदेशिक नीति के साथ-साथ हिन्द चीन की स्वतन्त्रता के प्रति फ्रान्स के कम्युनिस्टों की उपेक्षा भी उन्हें नापसन्द थी। यूरोप के कम्युनिस्टों और समाजवादियों के व्यवहार को देखकर उन्होंने महसूस किया कि जब तक एशिया के सब देश स्वतन्त्र नहीं हो जाते तब तक यूरोप के देशों की समाजवादी और कम्युनिस्ट पार्टियों के साथ हमारा सहयोग नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि यूरोप की विविध पार्टियां या तो सोवियत रूस के आदेश पर काम करती हैं या स्वयं अपने-अपने राज्य का स्वार्थ परित्याग करने के लिये तैयार नहीं हैं। एशिया के जो देश आज अपनी स्वतन्त्रता के लिए लड़ रहे हैं, उन देशों की समाजवादी पार्टियों का एक सम्मेलन होना आवश्यक है। इससे एक दूसरे को प्रोत्साहन और बल मिलेगा। इस सम्मेलन में सबके स्वार्थ और हित परस्पर विरोधी नहीं होंगे और न एक पार्टी दूसरे को दबा सकेगी। जिनके

हित और उद्देश्य समान हैं, जिनकी विचारधारा एक है और जो एक दूसरे के साथ समानता का व्यवहार करने को तैयार हैं उन्हीं का सम्मेलन होना चाहिए।'

मार्च सन् १९४७ में नरेन्द्र देवजी ने इंडियन कौंसिल आफ वर्ल्ड अफेयर्स द्वारा आयोजित एशियाई सम्मेलन की कार्यवाही पर एक लेख लिखा। इसमें उन्होंने सम्मेलन की सफलता पर हर्ष प्रकट करते हुए आशा की कि एशिया के विभिन्न देशों के पारस्परिक सम्बन्ध सुदृढ़ होंगे और 'एशियावासी संसार को एक नया मार्ग दिखायेंगे जिससे संसार का व्यथित हृदय शान्ति प्राप्त करेगा और राष्ट्र-राष्ट्र के बीच सौहार्द तथा भ्रातृत्व का सम्बन्ध स्थापित होगा। इस लेख में आचार्य नरेन्द्र देव ने एशिया के जातिगत संघर्षों (Racial conflicts) का विश्लेषण करते हुए उसके निपटारे की आवश्यकता पर भी जोर दिया। उन्होंने लिखा कि 'वैज्ञानिक दृष्टि से जाति-विशुद्धि नाम की कोई वस्तु नहीं है। सदा से जातियों का सम्मिश्रण होता आया है। यह भी धारणा मिथ्या है कि एक जाति विशिष्ट है और दूसरी निकृष्ट,' जो जाति विरोध इस समय पाया जाता है, उसका कारण आर्थिक है'। नरेन्द्र देवजी ने इस बात को स्वीकार करते हुए कि 'किसी देश के निवासियों को प्रवास कर दूसरे देश का आर्थिक शोषण करने का अधिकार नहीं है' उन्होंने सम्मेलन के इस सुझाव का समर्थन किया कि 'समाज में किसी जातीय समूह के साथ भेद-भाव नहीं होना चाहिये तथा उन सब विदेशियों के साथ समानता का व्यवहार होना चाहिये जो देश में आकर बस गये हैं'।

विश्वविद्यालयों की सेवा

अस्वस्थ होते हुए भी मित्रों और अधिकारियों के आग्रह पर उन्होंने सन् १९४७ में लखनऊ विश्वविद्यालय के और सन् १९५१ में बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी के प्रबन्ध का भार ग्रहण किया। वे लगभग साढ़े चार वर्ष लखनऊ विश्वविद्यालय के और लगभग ढाई वर्ष बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी के उपकुलपति रहे।

जब उन्होंने इन विश्वविद्यालयों के प्रबन्ध का उत्तरदायित्व ग्रहण किया था, उस समय इनकी दशा काफी चिन्ताजनक थी, प्रबन्ध में अकर्मण्यता थी, शिक्षकों में गुटबन्दी और वैमनस्य था और विद्यार्थियों

में अनुशासन की कमी थी, न उनमें आत्मसंयम था और न शिक्षकों तथा प्रबन्धकों के प्रति आदर भावना। ऐसी परिस्थिति में एक अस्वस्थ व्यक्ति के लिये प्रबन्धक के भारी भार को बहन करना कठिन था। बार बार बीमार हो जाने के कारण वे दशा को सुधारने के लिये जो करना चाहते थे नहीं कर पाते थे। फिर भी उनके उपकुलपतित्व के जमाने में इन दोनों विश्वविद्यालयों की दशा पहले से अच्छी जरूर हुई। इसके मूल कारण उनका आकर्षक व्यक्तित्व, विद्यार्थियों के प्रति उनकी व्यापक सद्भावना और सहानुभूति, उनकी योग्यता, उनका त्याग और न्यायप्रिय निष्पक्ष व्यवहार थे।

नरेन्द्र देवजी ने दोनों विश्वविद्यालयों में अपने वेतन का चालीस प्रतिशत यानी आठ सौ रुपये प्रतिमास विद्यार्थियों की सहायता में लगाने का निश्चय किया और अपने दान के आधार पर एक 'छात्र कल्याण निधि' (स्टूडेन्ट्स वेलफेयर फंड) की स्थापना की। इस निधि में उन्होंने दूसरे दानी महानुभावों से भी धन एकत्र किया। इस निधि द्वारा बनारस और लखनऊ विश्वविद्यालयों के सैकड़ों विद्यार्थियों को आर्थिक सहायता प्राप्त हो सकी।

सन् १९५१ में कांग्रेस सरकार ने माध्यमिक शिक्षा की प्रगति पर जांच के लिए आचार्य नरेन्द्र देव की अध्यक्षता में माध्यमिक शिक्षा समिति नियुक्त की। इस कमेटी ने पिछले दस वर्षों की गतिविधि की जांच कर पाठ्यक्रम में कई संशोधनों की सिफारिश की। उसने साधारण और विशिष्ट पाठ्यक्रम के भेद को मिटाने की सिफारिश की। उसने यह भी सुझाव दिया कि हिन्दी के पाठ्यक्रम में संस्कृत का प्रारम्भिक अध्ययन भी शामिल किया जाय। उसकी यह भी राय थी कि विद्यालयों में प्रतिदिन प्रातः प्रार्थना का भी प्रबन्ध किया जाय। नरेन्द्र देवजी स्वयं इस सुझाव से सहमत नहीं थे, पर जब कमेटी ने बहुमत से इसे स्वीकार कर लिया, तब अध्यक्ष द्वारा इसके विरुद्ध असहमति का नोट लिखना अनुचित समझ उन्होंने ऐसा नहीं किया।

इस जमाने में ही नरेन्द्र देवजी ने लिपि सुधार कमेटी और संस्कृत शिक्षा सुधार कमेटी की अध्यक्षता का उत्तरदायित्व भी वहन किया। लिपि सुधार कमेटी का काम नरेन्द्र देवजी की इच्छा अनुसार नहीं हो सका। जो कुछ सिफारिशें की गयीं, उनमें से अधिकांश पर कोई

अमल नहीं हुआ। प्रश्न अब भी मूल रूप से पहले जैसा ही जटिल बना हुआ है। संस्कृत शिक्षा समिति का काम नरेन्द्र देवजी की जिन्दगी में समाप्त नहीं हो पाया। हां, उन्होंने उस कमेटी की पहली बैठक में संस्कृत शिक्षा के सुधार के सम्बन्ध में जो सुझाव दिये थे उनकी छाप कमेटी के निर्णयों पर जरूर पड़ी।

भाषण और वक्तव्य

इस जमाने में ही नरेन्द्र देवजी ने सन् १९४७ में आगरा युनिवर्सिटी और सन् १९४९ में लखनऊ युनिवर्सिटी में उपाधि वितरण के अवसरों पर भाषण दिये। सन् १९४८ में देहली में युनिवर्सिटी टीचर्स कान्फरेन्स में तथा सन् १९५१ में बम्बई में अखिल भारतीय टीचर्स कान्फरेन्स में उन्होंने अध्यक्षीय भाषण दिये। इन सबमें उन्होंने बहुत ही संतप्त हृदय से देश की दर्दनाक स्थिति का विश्लेषण करते हुए शिक्षा को अधिक समाजोपयोगी बनाने का आग्रह किया। अध्यापकों के मान और हित की रक्षा और अभिवृद्धि पर अधिकारियों का ध्यान आकृष्ट किया तथा विद्यार्थियों और शिक्षकों का ध्यान उनके कर्तव्यों की ओर दिलाया।

इस जमाने में ही आचार्य नरेन्द्र देव ने सन् १९४८ में संस्कृत महाविद्यालय, काशी में दीक्षान्त भाषण देते हुए संस्कृत वाङ्मय की गरिमा और उसके समुचित अध्ययन की आवश्यकता पर ध्यान आकृष्ट करते हुए उसकी शिक्षा पद्धति में समुचित सुधार करने पर बल दिया। सन् १९५३ में काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा आयोजित संस्कृति सम्मेलन में उन्होंने सब प्रकार की संकीर्णता का परित्याग कर व्यक्ति और समष्टि दोनों के विकास को ध्यान में रखते हुए व्यापक मानवीय दृष्टिकोण से सांस्कृतिक विकास की ओर ध्यान आकृष्ट किया। सन् १९५४ में बिहार राष्ट्रीय परिषद के तृतीय वार्षिकोत्सव में उन्होंने अहिंदी भाषा-भाषियों की सद्भावना और सहयोग से हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि तथा हिन्दी भाषा के विस्तार की आवश्यकता पर जोर दिया। इस अवसर पर उन्होंने यह भी कहा कि 'जहां विज्ञान भौतिक जगत् के विकास का ज्ञान कराता है, वहां सच्चा साहित्य मानव सम्बन्धों के विषय में जानकारी कराता है। अतीत के अनुभवों के आलोक में वर्तमान को देखना तथा मानव समाज की दृष्टि से उसका संचालन करना एक सच्चे कलाकार का काम है'।

इस जमाने में आचार्य नरेन्द्र देव ने अपने बहुत से भाषणों तथा लेखों द्वारा विद्यार्थियों का उनके सांस्कृतिक कर्तव्य की ओर, समाजवादी नवयुवकों का समाजवाद के नैतिक मूल्यों तथा सद्व्यवहार की ओर, कलाकारों का प्रगतिशील साहित्य के सृजन की ओर तथा सभी का जीवन में संस्कृति के महत्त्व की ओर ध्यान आकृष्ट किया। आकाशवाणी से प्रसारित वार्ताओं में भी उन्होंने जन-शिक्षा, जीवन आदर्श तथा संस्कृति सम्बन्धी अन्य विषयों पर अपने विचार व्यक्त किये। इस काल में ही उन्होंने दो वर्ष काशी नागरी प्रचारिणी सभा की अध्यक्षता का भार वहन किया तथा काशी में नव संस्कृति संघ और समाज विज्ञान परिषद की, एवं लखनऊ में अखिल भारतीय संस्कृत परिषद की स्थापना में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

मार्च सन् १९४७ में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के कानपुर अधिवेशन के स्वागत अध्यक्ष की हैसियत से आचार्य नरेन्द्रदेव ने समाजवाद तथा जनतन्त्र के पारस्परिक सम्बन्ध पर जोर देते हुए सोवियत रूस के अधिनायकशाही की, जनतन्त्र के प्रति उनकी उपेक्षा की, तथा कम्युनिस्ट पार्टी के कुचक्रों की निन्दा की।

जून सन् १९४७ को नरेन्द्रदेवजी ने अपने मित्र डा० मंगल सिंह और प्रोफेसर मुकुट बिहारीलाल के साथ रियासती जनता की मांगों के सम्बन्ध में एक पत्र प्रकाशित किया। इस पत्र में उन्होंने भारतीय संघ में रियासतों के एकीकरण की मांग करने के साथ-साथ इस बात की मांग की कि हरेक रियासत की जनता की सामूहिक सत्ता राज्य की प्रमुख सत्ता तसलीम की जाय, रियासतों के सम्बन्ध में रियासती जनता का हित ही परमहित समझा जाय और रियासतों के राजनीतिक भविष्य का निर्णय जनहित के आधार पर जनमत के मुताबिक किया जाय, भारतीय संघ का रियासतों तथा प्रान्तों के प्रति समान अधिकार और उत्तरदायित्व हो, रियासती जनता का प्रान्तीय जनता की तरह भारतीय संघ से सम्बन्ध हो, जनमत ही संघ सरकार की सत्ता का आधार समझा जाय और उनके प्रतिनिधियों के प्रति ही संघ सरकार ज़िम्मेदार हो, भारतीय संघ में रियासती जनता का प्रान्तीय जनता के बराबर का स्थान हो, रियासत का प्रत्येक निवासी भारतीय संघ का नागरिक तसलीम किया जाय और उसे समान नागरिक अधिकार हासिल हों, उसके कर्तव्य

भी समान हों, तथा भारतीय संघ की व्यवस्थापिका सभा के लिये रियासती जनता द्वारा प्रतिनिधि चुने जायं।

इस जमाने में ही नरेन्द्रदेवजी ने मांग की कि १५ अगस्त सन् १९४७ को स्वतन्त्र भारत की घोषणा करते समय नवनिर्मित सरकार जमींदारी प्रथा की वास्तविक समाप्ति की घोषणा करे, उन्होंने यह भी मांग की कि सुदृढ़ राष्ट्रीय राज्य की स्थापना के लिए लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं को अपनाया और व्यापक बनाया जाय, लोकतन्त्र विरोधी मिथ्या विश्वासों और आस्थाओं का अन्त किया जाय, सर्वसाधारण को शक्तिमान बनाया जाय, उनमें सामाजिक शिक्षा का प्रसार किया जाय, जनता में यह विश्वास पैदा किया जाय कि राष्ट्र की प्रमुखता उनमें निहित है और इस विश्वास पर उन्हें राष्ट्र निर्माण कार्य में समुचित योग देने को प्रेरित किया जाय।

कांग्रेस से सम्बन्ध विच्छेद

आजादी मिल जाने के बाद श्री जयप्रकाश नारायण आदि सोशलिस्ट नेता कांग्रेस से सम्बन्ध विच्छेद करने के पक्ष में थे, पर आचार्य नरेन्द्र देव तत्काल कांग्रेस को छोड़ कर उसको निर्बल बनाना ठीक नहीं समझते थे। पर जब मार्च सन् १९४८ में गांधी जी के निधन के बाद सरदार पटेल के मशवरे पर कांग्रेस ने निश्चय किया कि किसी दूसरी पार्टी का सदस्य कांग्रेस का सदस्य नहीं हो सकता, तब आचार्य नरेन्द्र देव ने भी कांग्रेस को छोड़ देने का समर्थन किया। सोशलिस्ट पार्टी ने अपने नासिक अधिवेशन में सम्बन्ध विच्छेद का प्रस्ताव स्वीकार किया। उस समय नरेन्द्र देवजी ने कांग्रेस की गतिविधि की समीक्षा करते हुए सोशलिस्ट पार्टी को एक सुदृढ़ विरोधी जनतान्त्रिक दल के रूप में गठित करने का मशवरा दिया।

कांग्रेस को छोड़ने के साथ साथ आचार्य नरेन्द्र देवजी आदि उन सोशलिस्ट विधायकों ने जो कांग्रेस के टिकट पर चुने गये थे, विधान सभा से इस्तीफा दे दिया। उपचुनावों में कांग्रेस ने राजनीतिक प्रश्नों पर पर्दा डालकर अप्रासंगिक प्रश्नों को उपस्थित कर जनता को भ्रम में डालने की कोशिश की। कांग्रेस के हथकण्डों और कुचक्रों से नरेन्द्र देवजी ने ऐसा अनुभव किया कि कांग्रेस से विरोधी दलों के प्रति बरती जाने वाली

जनतांत्रिक सद्भावना की आशा भी नहीं की जा सकती। फिर भी आचार्यजी ने अपनी तरफ से उपचुनाव में कोई ऐसी बात नहीं करने दी जो स्वस्थ जनतन्त्र के विरुद्ध हो।

समाजवाद की ओर

मार्च सन् १९४९ में श्री मेहरअली की अनुपस्थिति में नरेन्द्र देवजी ने सोशलिस्ट पार्टी के पटना अधिवेशन की अध्यक्षता की। इसी अधिवेशन में पार्टी का नया विधान स्वीकृत हुआ और उसके अनुसार आचार्यजी पार्टी के स्थायी अध्यक्ष चुने गये। इस अधिवेशन में आचार्यजी ने कांग्रेस तथा कम्युनिस्ट पार्टी के साथ-साथ साम्प्रदायिकता तथा प्रान्तीयता की कड़ी आलोचना करते हुए राष्ट्रीयता और जनतन्त्र के सिद्धान्तों के व्यापक प्रसार पर जोर दिया। उन्होंने समाजवाद के मानवतावादी तथा जनतान्त्रिक और सांस्कृतिक तत्त्वों की व्याख्या करते हुए समाजवादी ढंग से निम्न जातियों के आर्थिक और सामाजिक स्तर को ऊंचा करने की तथा चुने हुए क्षेत्रों में ठोस काम करने की समाजवादियों को सलाह दी। इन्हीं बातों को उन्होंने अप्रैल सन् १९५० में पंजाब पार्टी के जालन्धर अधिवेशन में दोहराया। इस अधिवेशन में उन्होंने कहा कि 'आज जो प्यार और भावनाएं बिरादरियों और सम्प्रदायों के लिये हैं वे भावनाएं इस देश के कोने-कोने में रहने वाले सब लोगों के लिये होना चाहिए।' तभी हम अपने राष्ट्रीय राज्य को कायम रख सकेंगे।

जून सन् १९५० में मद्रास में सोशलिस्ट पार्टी का वार्षिक अधिवेशन हुआ। अस्वस्थ होने के कारण आचार्य जी वहां नहीं जा सके, पर उसके बाद कई लेखों द्वारा उन्होंने मद्रास सम्मेलन के निर्णयों और दृष्टिकोण का समर्थन किया। एक लेख में उन्होंने मार्क्सवाद और गान्धीवाद के मौलिक सिद्धान्तों और दृष्टिकोण में अन्तर बताते हुए लिखा कि सत्याग्रह को स्वीकार करने से 'मार्क्सवाद के किसी सिद्धान्त को कोई हानि नहीं पहुँचती' और 'उससे मार्क्सवाद और गान्धीवाद का समन्वय नहीं होता।' एक दूसरे लेख में उन्होंने क्रान्ति के उपकरणों और परिस्थिति का विश्लेषण करते हुए सोशलिस्ट पार्टी के कार्यक्रम का समर्थन किया। उन्होंने लिखा कि 'जनतान्त्रिक उपकरणों

में पार्लियामेन्ट में काम करने के अतिरिक्त प्रचार, संगठन, हड़ताल, सत्याग्रह आदि भी शामिल हैं। अतः जनतान्त्रिक प्रक्रियाओं को वैधानिक प्रकार कहना उचित नहीं है। वैधानिक उपाय तो इस प्रकार का बहुत छोटा सा अंश है।' इसी तरह एक दूसरे लेख में उन्होंने श्रीमती अरुणा आसफ अली के विचारों की समीक्षा करते हुए सोशलिस्ट पार्टी की धारणाओं और कार्यक्रम को पुष्ट किया। आचार्यजी ने बताया कि जनतान्त्रिक समाजवाद के विरुद्ध अरुणाजी के विचार मार्क्सवाद के प्रतिकूल हैं। जनतांत्रिक समाजवाद ही मार्क्स का कम्युनिज्म है और मार्क्स पूर्ण जनतन्त्र का सबसे बड़ा समर्थक था।

सन् १९५२ के आम चुनाव के बाद सोशलिस्ट पार्टी और किसान-मजदूर-प्रजा पार्टी के एकीकरण की बात चली। आचार्य नरेन्द्र देव इस एकीकरण के विरुद्ध थे। उन्हें इस बात का भी क्षोभ था कि जब वह एक सद्भावना मण्डल में चीन गये थे, उनकी अनुपस्थिति में उनके साथियों ने उनसे मशवरा लिये बिना पार्टी के विलयन के सम्बन्ध में दूसरी पार्टी के नेताओं से बातचीत शुरू कर दी और बात इतनी आगे बढ़ा दी कि पीछे हटना कठिन हो गया। पर जब आचार्य जी ने देखा कि राष्ट्रीय कार्य समिति का बहुमत विलयन के पक्ष में है, तब सोशलिस्ट पार्टी के सिद्धान्तों की यथासम्भव रक्षा करते हुए विलयन की प्रक्रिया को आगे बढ़ाना उन्होंने सोशलिस्ट पार्टी के अध्यक्ष की हैसियत से अपना कर्तव्य समझा। उस समय कुछ व्यक्तियों का ऐसा विचार था कि इस संयुक्त पार्टी के साथ सोशलिस्ट शब्द न जोड़ा जाय, पर नरेन्द्र देवजी इस बात के लिये किसी हालत में तैयार नहीं थे। वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त पर भी नरेन्द्र देवजी का दृढ़ विश्वास था। इस सिद्धान्त को स्वीकार करना भी वे पार्टी के लिये जरूरी समझते थे। उनके आग्रह पर विलयन के समझौते में शान्तिमय हड़तालों और सत्याग्रहों को भी जनतान्त्रिक साधनों के आवश्यक अंग के रूप में वर्ग-संघर्ष का उपाय मान लिया गया। सितम्बर सन् १९५२ को सोशलिस्ट पार्टी की जनरेल कौंसिल ने विलयन को स्वीकार कर लिया। नवगठित प्रजासोशलिस्ट पार्टी के अध्यक्ष आचार्य कृपालानी और मन्त्री श्री अशोक मेहता नियुक्त हुए।

इसके कुछ दिन बाद प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू के निमन्त्रण

पर श्री जयप्रकाश नारायण ने उनसे सरकार में प्रजासोशलिस्ट पार्टी के सहयोग के सम्बन्ध में बातचीत की और उसके लिये १४ सूत्रीय प्रोग्राम भेजा। आचार्य कृपालानी और श्री अशोक मेहता सहयोग के पक्ष में थे। आचार्य नरेन्द्र देव और डाक्टर लोहिया सरकार में शामिल होने के पक्ष में नहीं थे। पंडित नेहरू १४ सूत्रीय प्रोग्राम की शर्त मानने को तैयार नहीं थे। श्री जयप्रकाश नारायण भी किसी शर्त के बिना पार्टी के प्रतिनिधियों का कांग्रेस सरकार में शामिल होना ठीक नहीं समझते थे। बात खत्म हो गयी। बैतूल सम्मेलन ने भी सहयोग की बात नामंजूर कर दी।

विदेश यात्रा

फरवरी सन् १९५० में नरेन्द्र देवजी एक गैर सरकारी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के प्रतिनिधि की हैसियत से उसके क्षेत्रीय सम्मेलन में शामिल होने श्याम गये। लौटते समय वे कुछ दिन रंगून में रहे जहां वे बहुत से लोगों से मिले और उन्होंने वहां की परिस्थिति का अध्ययन किया।

अप्रैल सन् १९५२ में भारत सरकार द्वारा आयोजित सद्भावना मण्डल के एक सदस्य की हैसियत से वे चीन गये और वहां छः सप्ताह रहे। ४ मई सन् १९५२ को उन्होंने पेकिंग युनिवर्सिटी के विद्यार्थियों को सम्बोधित किया जिसमें उन्होंने कहा कि हम दोनों को बहुत काम करना है, जनता की गरीबी दूर करना है, उसे शिक्षा से लाभान्वित करना है और इसके अतिरिक्त स्वतन्त्रता, समता, भ्रातृत्व और सामाजिक न्याय के आधार पर एक नयां समाज बनाना है। उन्होंने यह भी कहा कि संसार एक होता जा रहा है और यदि हम भयंकर विपत्ति से अपनी रक्षा करना चाहते हैं तो हमें अन्तर्राष्ट्रीय मैत्री और सहानुभूति बढ़ानी चाहिये। जब तक हम अन्तर्राष्ट्रीय भावना से अनुप्राणित नहीं होते तब तक हम कोई सफलता हासिल नहीं कर सकते'।

जुलाई सन् १९५४ में आचार्य नरेन्द्र देव स्वास्थ्य ठीक करने के निमित्त इंग्लिस्तान गये, पर जब वहां कुछ लाभ नहीं हुआ तब आस्ट्रिया चले गये। वियना के एक प्रसिद्ध चिकित्सक के मशविरे पर वे ओवलाडिस में लगभग एक महीने रहे। वहां उनके स्वास्थ्य में काफी

सुधार हुआ। पर हिन्दुस्तान आते-आते फिर बिगड़ गया। यूरोप की इस यात्रा में वे जर्मनी, फ्रांस, यूगोस्लाविया, मिश्र, इसराइल और लेबनान भी गये। इन सभी देशों में उन्होंने प्रमुख समाजवादी नेताओं से बातचीत की तथा उनसे समाजवाद की गतिविधि के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की। यूगोस्लाविया में उन्होंने डाक्टर काडले से बहुदलीय व्यवस्था के समर्थन में विचार विमर्श किया तथा इसराइल में समाजवादी कार्यकर्ताओं की सभा में एक भाषण भी दिया। वे यूगोस्लाविया के विकेन्द्रीकरण के प्रयोग तथा श्रमिकों की कौंसिलों द्वारा कलकारखानों के संचालन की व्यवस्था से तथा आस्ट्रिया के समाजवादी आन्दोलन के सांस्कृतिक दृष्टिकोण एवं वियना नगरपालिका द्वारा सोशलिस्टों के निर्माण कार्य से काफी प्रभावित हुए।

अध्यक्ष का उत्तरदायित्व

यूरोप से वापिस आने पर आचार्य जी अपना सब समय जनतांत्रिक समाजवाद के सिद्धान्तों और मूल्यों के प्रसार में और विद्याचरण-सम्पन्न नवयुवकों को समाजवाद के कार्य में दीक्षित करने में लगाना चाहते थे। पर बीमारी की अवस्था में ही उन्हें प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए पार्टी के झंझटों में पड़ना पड़ा और उसका नेतृत्व ग्रहण करना पड़ा। आचार्य नरेन्द्र देव पार्टी के आन्तरिक विवाद से क्षुब्ध थे। विवाद से अलग रहना ही उचित समझते थे। पार्टी के नागपुर अधिवेशन में वे चुप रहे। पर जब आचार्य कृपालानी ने अध्यक्ष पद से इस्तीफा दिया और कोई दूसरा नेता उत्तरदायित्व को वहन करने को तैयार नहीं हुआ, तब उन्होंने अपने स्वास्थ्य का ध्यान छोड़कर अध्यक्ष बनना स्वीकार कर लिया। विवाद को शांत करने के लिए उन्होंने दोनों पक्षों के समर्थकों की मिली जुली राष्ट्रीय कार्यसमिति संघटित करने की कोशिश की। पर अपने इस प्रयास में वे पूरी तौर पर सफल नहीं हुए। जहां आचार्य कृपालानी ने निमन्त्रित की हैसियत से राष्ट्रीय कार्यसमिति में उपस्थित रहने का वायदा किया, वहां डाक्टर लोहिया ने ऐसा करने से भी इनकार कर दिया।

२१ दिसम्बर १९५४ को आचार्य नरेन्द्रदेव ने प्रान्तीय और जिला मंत्रियों को एक परिपत्र भेजा जिसमें उन्होंने आत्म-संयम और अनुशासन

पर जोर दिया। उन्होंने कहा कि 'जनतांत्रिक समाजवाद एक जीवन-प्रणाली और विश्वव्यापी सांस्कृतिक आन्दोलन है और इस हैसियत से उसकी भावना हमारे सम्पूर्ण जीवन में व्याप्त होना आवश्यक है। हम बराबरवालों का स्वतंत्र समाज बनाना चाहते हैं, पर हमारी पार्टी इस लक्ष्य का सफल साधन कैसे बन सकती है जब तक हम अपने व्यक्तिगत जीवन को इस आदर्श के अनुकूल बनाने की भरसक चेष्टा न करें। उनका निश्चित मत था कि 'हमारे सर्वोत्तम सिद्धान्त और कार्यक्रम अपने उद्देश्य को प्राप्त करने में उस समय तक विफल रहेंगे जब तक हम आपस में भाई चारे की भावना को परिपक्व न करें, एक दूसरे की राय का आदर न करें, शहनशील न हों, शोषित और दलित वर्गों के साथ एकात्मता की उत्तरोत्तर प्राप्ति का प्रयत्न न करें और साथ ही पार्टी के अनुशासन का पालन न करें।' उन्होंने सब साथियों से 'पार्टी का अनुशासित सिपाही' होने की अपील की और कहा कि 'अनुशासन के बिना तो किसी पार्टी या संस्था का ठीक तौर पर चलना या पनपना नामुमकिन है, क्योंकि अनुशासन का अभाव तो अराजकता और विघटन की ओर ही ले जा सकता है।'

इस परिपत्र के कुछ दिन बाद लोकसभा ने, तथा जनवरी सन् १९५५ में कांग्रेस ने अपने अवाडी अधिवेशन में 'समाजवादी ढंग के समाज को कायम करना' ही आर्थिक योजना का लक्ष्य घोषित किया। इस घोषणा ने प्रजा सोशलिस्ट पार्टी की बम्बई शाखा में एक बड़ा विवाद खड़ा कर दिया, जहां श्री अशोक मेहता और उनके साथियों ने इसका स्वागत किया, वहां सर्वश्री मधु लिमये, एम०आर० दण्डवते आदि ने इस घोषणा को एक धोखा बताया। विवाद ने इतना भयंकर रूप धारण किया कि अन्ततोगत्वा पार्टी की बम्बई शाखा ने श्री मधुलिमये को मुअत्तल कर दिया। डाक्टर लोहिया ने साथी मधुलिमये का समर्थन करते हुए पार्टी की गतिविधि की कड़ी आलोचना शुरू कर दी और उनके इशारे पर राष्ट्रीय कार्यसमिति के आदेश की अवहेलना करते हुए उत्तर प्रदेश की प्रान्तीय समिति ने श्री मधुलिमये को प्रान्तीय कान्फ्रेन्स के उद्घाटन के लिये निमंत्रित किया। आचार्य नरेन्द्र देव ने विवाद को शान्त करने की भरसक कोशिश की, पर जब उनकी बातों का कोई असर नहीं हुआ

तब राष्ट्रीय कार्यसमिति ने उत्तर प्रदेश शाखा की प्रान्तीय कार्यसमिति तथा उसके अध्यक्ष श्री गोपाल नारायण सक्सेना एवं डाक्टर राममनोहर लोहिया को मुअत्तल कर दिया और डाक्टर लोहिया ने अपने समर्थकों की मदद से एक नई सोशलिस्ट पार्टी का गठन कर डाला। इस तरह प्रजा सोशलिस्ट पार्टी दो हिस्सों में बट गई।

अध्यक्षीय भाषण

दिसम्बर १९५५ के अन्तिम सप्ताह में बिहार राज्य के प्रसिद्ध नगर गया में पार्टी अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन में लगभग ६०० प्रतिनिधियों ने भाग लिया। लगभग ९०० पार्टी के दूसरे सदस्य दर्शक के रूप में अधिवेशन में उपस्थित थे। अधिवेशन में उपस्थित सदस्यों में बहुत जोश था। बीमारी के कारण आचार्य नरेन्द्र देव नहीं आ सके। उनके स्थान पर मंगलोर के प्रसिद्ध वकील और कर्मठ राजनीतिज्ञ, पार्टी की दक्षिण केनारा शाखा के अध्यक्ष श्री कारन्थ ने बड़ी योग्यता से अध्यक्ष का काम किया और पार्टी के प्रधान मंत्री श्री त्रिलोकी सिंह ने अधिवेशन में आचार्यजी का अध्यक्षीय भाषण पढ़ा। इस भाषण में आचार्यजी ने पार्टी की फूट पर दुःख प्रकट करते हुए कहा कि 'यदि कोई कारवाई न की गई होती तो अनुशासन-हीनता जंगल की आग की तरह फैल जाती और पार्टी की प्रतिष्ठा की बहुत क्षति होती।' उन्होंने पार्टी के कार्यकर्ताओं को निराशा छोड़ कर गम्भीरतापूर्वक दुगुने उत्साह से काम पर लग जाने का मशवरा दिया। उन्होंने कहा कि समाजवाद नये युग का शुभ संदेश है, इसका प्रचार और तदनुसार नव समाज की रचना ही हमारा कर्तव्य है। हमें केवल अर्थविहीन ही नहीं बल्कि जातिविहीन समाज के लिये भी प्रयत्नशील होना चाहिये। आधुनिक युग में जाति प्रथा काल विपरीत है। यह जनतन्त्र और राष्ट्रीयता दोनों के विरुद्ध है। इसलिए हमें राष्ट्रीय भावना को सुदृढ़ करना चाहिये। केवल यही सम्प्रदायवाद और जातिवाद की बुराइयों को रोक सकती है।

आर्थिक और सामाजिक विकास पर अपनी राय प्रकट करते हुए उन्होंने योजनाओं की सफलता के लिए 'जन-उत्साह जागृत' करने पर जोर दिया और कहा कि जब तक जनता राष्ट्र-निर्माण के काम में भाग लेने के

गौरव का अनुभव नहीं करती, तब तक योजनाएं चाहे वे कितनी ही आडम्बरपूर्ण क्यों न हों, सफल नहीं होंगी।

नरेन्द्र देवजी का कहना था कि एक पिछड़े देश में जनतांत्रिक समाज के बुनियादी सिद्धान्तों के आधार पर एक नयी समाज-व्यवस्था का निर्माण करना सरल काम नहीं है। इसके लिए हमें ज्ञान द्वारा समर्थित लक्ष्य पर दृढ़ विश्वास रखना होगा, सक्रिय और सतर्क रहना पड़ेगा, निरन्तर अपने कार्य को नये क्षेत्रों में विस्तृत करना पड़ेगा और क्षतिपूर्ति के लिए दुगुने उत्साह से काम करना होगा। आचार्यजी के विचार में संसदीय कार्य, संघर्ष और रचनात्मक कार्य महत्त्वपूर्ण हैं और सभी को हमारे कार्यक्रम में उचित स्थान मिलना चाहिये। हम किसी की भी उपेक्षा नहीं कर सकते।

आचार्यजी ने यह साफ तौर पर कहा कि इस परमाणु युग में हिंसा को राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही क्षेत्रों में अस्वीकार करना है। युद्ध किसी भी समस्या को हल नहीं करता और इसलिये इसे गैरकानूनी किया जाना चाहिये। राष्ट्रीय क्षेत्र में भी हिंसा का प्रयोग उपयोगी नहीं होगा। वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण शासक दल की सैनिक शक्ति बहुत बढ़ गई है, जिसने जनता द्वारा अपनाये गये युद्ध मार्ग को जिसके जरिए वह स्थापित सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करती है, अर्थहीन बना दिया है। दूसरी तरफ विश्व घटनाओं के दबाव तथा मजदूर और अन्य आन्दोलनों के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण शासक-वर्ग प्रत्येक स्थान पर जनता को अधिक सुविधाएं प्रदान करने के लिये विवश हो रहा है और स्वतंत्र देशों में बालिग मताधिकार के आधार पर जनतांत्रिक संविधान अपनाये जा रहे हैं।

आचार्य नरेन्द्र देवजी प्रोफेसर लास्की के इन विचारों से सहमत थे कि वर्तमान जटिल संसार में जिस सरकार के मार्गदर्शन के लिए कोई सामाजिक दर्शन नहीं, वह बिना जाने बूझे पूंजीवाद के दर्शन के प्रभाव में आ जाती है। पर सिद्धान्तों के महत्त्व को तसलीम करते हुए भी आचार्यजी कठोर रूढ़िवादिता और अन्धसिद्धान्तवादिता के विरुद्ध थे। उनका कहना था कि 'आज के युग में ज्ञान की सीमाएं नित्य प्रति विस्तृत होती जा रही हैं। अतः परिस्थिति के अनुरूप मस्तिष्क रचना एक निरन्तर प्रक्रिया है—सभी सिद्धान्त और सामाजिक

दर्शन अपर्याप्त और अधूरे होते हैं। इस तेजी से बदलने वाले जगत में ऐसी नवीन परिस्थितियों का उत्पन्न होना निश्चित है जिनके लिए कोई पूर्व निश्चित सिद्धान्त नहीं है"। अपने भाषण में उन्होंने यह भी कहा कि एक सिद्धान्त को जान लेना सुगम है, किन्तु एक निश्चित स्थिति में उसे लागू करना अत्यन्त कठिन है। सिद्धान्त हमको एक सीमा तक ले जा सकते हैं। जब तक आप अपने देशवासियों को निकट से नहीं जानते, मानव व्यवहार का प्रचुर अनुभव नहीं रखते और अपने देश की सामाजिक, आर्थिक अवस्थाओं का भलीभांति अध्ययन नहीं करते तब तक आप जनता को कर्म-पथ का दिग्दर्शन भी नहीं करा सकते।

अन्त में आचार्यजी ने समाजवादी युवकों से विद्याचरणसम्पन्न निःस्वार्थ समाजसेवी बनने की अपील की। उन्होंने कहा कि 'निःस्वार्थ सेवा में जो उन्नयन और आनन्द प्राप्त होता है वही कार्यकर्ताओं का पर्याप्त पुरस्कार है'। उनका विश्वास था कि यदि कार्यकर्ता 'एक ऐसे सामाजिक उद्देश्य की साधना में निरत होंगे जो जनता की वास्तविक इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति करे' और अपने जीवन को जनजीवन से तन्मय कर देंगे तो वे एक अजेय शक्ति बन जायेंगे। जनता उनकी पुकार को सुनेगी और सब नवयुवक, वे चाहे जहां हों, उनकी ओर आकृष्ट होंगे। उनका आन्दोलन शक्ति का संचय करेगा और उनका संघटन उनके नेतृत्व में जन आन्दोलन का रूप ले लेगा'।

तीन दिन की बहस के बाद कतिपय प्रमुख नेताओं के विरोध के बावजूद प्रजा सोशलिस्ट कान्फ्रेन्स ने भारी बहुमत से नीति घोषणा को स्वीकार कर लिया। कांग्रेस, कम्युनिस्ट पार्टी या किसी साम्प्रदायिक पार्टी से प्रजा सोशलिस्ट पार्टी चुनाव सम्बन्धी समझौता करे अथवा नहीं इस विषय पर काफी मतभेद था। पर इस पर भी ६० प्रतिशत प्रतिनिधियों के बहुमत से नीति घोषणा की यह बात स्वीकार कर ली गयी कि इन पार्टियों से चुनाव सम्बन्धी समझौता न किया जाय। कुछ संशोधन आचार्य नरेन्द्र देव के पास विचार के लिये भेज दिये गये। इनमें से कुछ को आचार्यजी ने मंजूर कर लिया और इस तरह जनवरी सन् १९५६ में नीति घोषणा तैयार हो गयी।

नीति घोषणा को ठीक करने के बाद ही ३ जनवरी १९५६ को नरेन्द्र देवजी स्वास्थ्य को ठीक करने के उद्देश्य से हवाई जहाज के

जरिये पेरन्दुराई के लिये चल दिये। उनके साथ उनकी धर्मपत्नी और उनके स्नेही डाक्टर रामधर मिश्र थे। यह स्थान मद्रास राज्य के कोयम्बटूर जिले में था और इसे उनके मित्र श्री श्रीप्रकाश जी ने जो उस समय मद्रास के राज्यपाल थे उनके लिये चुना था। उन्होंने ही वहां पर आचार्यजी के रहने का समुचित प्रबन्ध किया था। आचार्य जी वहां डेढ़ महीने रहे। वह स्थान उन्हें पसन्द था और वहां विश्राम करके उनके स्वास्थ्य में कुछ सुधार अवश्य हुआ पर यह सुधार स्थायी साबित नहीं हुआ। दमे के छोटे-छोटे दौरे होते ही रहते थे। आन्तरिक जीवन-शक्ति ठीक तौर पर साथ नहीं देती थी।

यूं तो पेरन्दुराई जाने से पहले ही आचार्यजी ने अपनी पुस्तक 'बौद्ध धर्मदर्शन' की प्रस्तावना लिख दी थी। फिर भी पेरन्दुराई जाते समय वे अपने साथ बौद्ध दर्शन की पुस्तकें लेते गये थे और उनकी पुस्तक 'बौद्ध धर्म दर्शन' में जो बच रहा था उसे समाप्त करने की वे वहां कोशिश करते रहे।

पेरन्दुराई चले जाने पर उन्हें प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के कार्यकर्ताओं की भीड़ से तो छुट्टी जरूर मिल गयी, पर फिर भी पार्टी के भविष्य की चिन्ता उन्हें सदा परेशान करती रही। सन् १९५५ की दुःखद घटनाएं उन्हें बार-बार याद आतीं और उनकी याद उन्हें परेशान करती थी। जो साथी अलग हो गये थे वे कैसे फिर मिलें यह वे सोचते रहते थे। कुछ पुराने साथियों की बेवफाई की याद उन्हें व्यथित कर देती थी। इससे भी अधिक बम्बई में होने वाले उपद्रवों के समाचार उन्हें परेशान कर रहे थे। वह संयुक्त महाराष्ट्र की मांग को ठीक समझते थे, उनके विचार में बम्बई को मराठी भाषा-भाषी वृहत् महाराष्ट्र का अंग होना ही चाहिये था, पर उसके लिये मार काट और विभिन्न भाषा-भाषी समूहों में वैमनस्य उन्हें दुःखी करता था, उनके हृदय को व्यथित करता था। उन्हें पार्टी के कार्यकर्ताओं और विधायकों के बौद्धिक और सैद्धान्तिक स्तर को ऊंचा करने का ध्यान रहता था। इस काम के लिए वे प्रत्येक राज्य में शिक्षण शिविरों का आयोजन जरूरी समझते थे। वे चाहते थे कि नीति घोषणा की बातों को समझाने के लिये प्रत्येक जिले में कार्यकर्ताओं के सात-आठ दिन के शिविर हों। उन्होंने निश्चय किया कि उत्तर प्रदेश और बिहार के

समाजवादी विधायकों का एक महीने का शिविर बनारस में किया जाय। उसका पाठ्यक्रम तैयार करने के लिये उन्होंने लेखक को लिखा। लेखक ने एक बड़ा लम्बा चौड़ा पाठ्यक्रम बना कर उनके पास भेज दिया। उसमें दो चार बातें और जोड़कर आचार्य जी ने उसे स्वीकार किया। उसी पाठ्यक्रम की प्रतिलिपि में उन्होंने संकेत किया कि किन-किन विषयों पर किन-किन साथियों को बोलने के लिये निमंत्रित किया जाय। एक सप्ताह शिविर में रह कर (१) भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास, (२) भारतीय समाजवादी आन्दोलन की ऐतिहासिक रूपरेखा, (३) कांग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टियों के लक्ष्यों, नीतियों और कार्यक्रमों की समीक्षा, (४) कम्युनिस्ट चीन, तथा (५) संसार में नैतिक मूल्यों के विकास के इतिहास पर वे स्वयम् भाषण देना चाहते थे।

११, १२ और १३ फरवरी को कोयम्बटूर में प्रजा सोशलिस्ट पार्टी की राष्ट्रीय कार्यसमिति की बैठक बुलायी गयी। आचार्यजी का स्वास्थ्य ऐसा नहीं था कि वे कार्यसमिति के काम में भाग ले सकें। इसलिए कार्यसमिति की ११ और १२ फरवरी की बैठकें परेन्दुराई से दूर कोयम्बटूर नगर में ही की गयीं। पार्टी के संविधान के अनुसार आचार्यजी के सिफारिश पर श्री गंगाशरणसिंहजी उपाध्यक्ष (डिप्टी चेयरमैन) नियुक्त किये गये।

तीसरे दिन अर्थात् १३ फरवरी को आचार्यजी के निवास स्थान परेन्दुराई में कार्यसमिति की बैठक हुई। इस बैठक में संयुक्त महाराष्ट्र के प्रश्न पर तथा बम्बई की परिस्थिति पर विस्तार के साथ विचार हुआ। साथी प्रेम भसीन ने जिन्हें आचार्यजी ने बम्बई के दंगों की जांच के लिये भेजा था अपनी रिपोर्ट पेश की। आचार्यजी ने भी पार्टी की नीति के सन्दर्भ में लगभग पचास मिनट तक बम्बई की समस्या और भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन पर अपने विचार व्यक्त किये। उन्होंने भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्विभाजन की मांग के औचित्य को स्वीकार करते हुए राष्ट्र की वफादारी को प्राथमिकता देने पर आग्रह किया। उन्होंने कहा कि यदि भाषा का आन्दोलन हिंसात्मक स्वरूप धारण कर लेता है और विभिन्न भाषा-भाषी समूहों के पारस्परिक सम्बन्धों में तनाव पैदा कर देता है, तब राष्ट्र के एके

को खतरा पैदा हो जाता है। अतः विभिन्न भाषा-भाषी समूहों के बीच सद्भावना और सौहार्द के वातावरण को बनाये रखते हुए ही इस आन्दोलन को चलाना राष्ट्र के लिये श्रेयस्कर हो सकता है। उन्होंने पार्टी के कार्यकर्ताओं को मशवरा दिया कि वे बम्बई में अल्पसंख्यकों में सद्भावना का वातावरण पैदा करने की कोशिश करें। आचार्यजी के अनुमति से राष्ट्रीय कार्यसमिति ने इस सम्बन्ध में तथा गोलीकाण्ड की जांच के सम्बन्ध में प्रस्ताव पारित किये एवं उनके अनुरोध पर उन्हें तीन मास के लिए चेयरमैन के उत्तरदायित्व से मुक्त कर डिप्टी चेयरमैन श्री गंगा शरण सिंहजी को स्थानापन्न चेयरमैन का काम करने का आदेश दिया।

इन प्रस्तावों के स्वीकृत हो जाने पर राष्ट्रीय कार्यसमिति का कार्य समाप्त हुआ। पर इसके बाद सायंकाल को आचार्यजी की साथी गंगाशरण सिंहजी से काफी देर तक बातचीत होती रही। बातचीत में आचार्यजी ने कहा कि वे उत्तरदायित्व से भागने वाले व्यक्ति नहीं हैं, उन्होंने चिन्ता रहित हो स्वास्थ्य को ठीक करने के लिये छुट्टी ली है। पर जब वे यह बात करते थे उन्हें पता नहीं था कि उनकी यह छुट्टी पार्टी से आखिरी बिदायी थी।

गंगा बाबू के चले जाने के बाद आचार्यजी को दमें का दौरा हुआ। इस दौरे में भी आचार्यजी ने श्री जयप्रकाश नारायणजी को लिखा कि वे राज्यों के पुनर्संगठन के सम्बन्ध में प्रधान मंत्री नेहरू से मिलें। इस बार स्वास्थ्य बिगड़ता ही चला गया। जब पांच दिन तक स्वास्थ्य में कोई सुधार नहीं हुआ और आचार्यजी अपने जीवन से बहुत कुछ निराश हो गये, तब श्री श्रीप्रकाशजी को सूचना दी गयी और उनके आने पर आचार्यजी ने श्री श्रीप्रकाशजी से अकेले में बातें कीं। उन्होंने श्री श्रीप्रकाशजी से अपनी पारिवारिक समस्याओं की चर्चा करते हुए, पार्टी की परिस्थिति पर अपनी सम्वेदना प्रकट की। जैसा कि श्री श्रीप्रकाश जी ने अपने एक वक्तव्य में बताया, उन्हें प्रजा सोशलिस्ट पार्टी की ही चिन्ता थी और वे चाहते थे कि श्री जयप्रकाश नारायण फिर पार्टी का नेतृत्व सम्भाल लें। फिर इसके बाद डाक्टरों के मशवरे पर वे इरोड लाये गये। पर यहां ऐसा दौरा पड़ा कि थोड़ी देर में ही उनका देहावसान हो गया। इस तरह १९ फरवरी १९५६ को सायंकाल पांच बजकर दस मिनट पर आचार्यजी चल बसे।

शोक

आचार्यजी के निधन से सारे देश में शोक छा गया। उत्तर प्रदेश के लोग तो बेहाल हो गये। २० फरवरी प्रातःकाल शव को कोयम्बटूर लाया गया। वहाँ हवाई अड्डे पर कोयम्बटूर प्रजासोशलिस्ट पार्टी के कार्य-कर्ताओं तथा सूती मिल मजदूरों के प्रतिनिधियों की एक काफी बड़ी भीड़ ने शव पर फूल मालाएँ चढ़ाईं। सायंकाल चार बजकर अड़तालीस मिनट पर हवाई जहाज लखनऊ के अमौसी हवाई अड्डे पर पहुँचा। वहाँ राज्यपाल श्री के० एम० मुंशी, मुख्य मन्त्री श्री सम्पूर्णानन्द, रेल मन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री तथा बहुत से अन्य मन्त्री, विधायक, संसद सदस्य कई हजार जनता के साथ उपस्थित थे। वहाँ राज्यपाल आदि ने राज्य की ओर से रीथ चढ़ाये। हवाई अड्डे से शव उनके मकान पर लाया गया। रास्ते में सड़क के दोनों ओर हजारों की संख्या में जनता खड़ी थी और आचार्यजी के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर रही थी। उनके निवास स्थान से अर्थी मोती महल लायी गयी। वहाँ राष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री नेहरू, गृह मन्त्री पन्त तथा विभिन्न संस्थाओं की ओर से रीथ चढ़ाये जाने तथा श्रीचन्द्रभानु गुप्त के छोटे से भाषण के बाद दाह संस्कार हुआ।

श्रद्धाञ्जलियाँ

देश भर में शोक सभाएँ हुईं और करीब-करीब सभी प्रतिष्ठित महानुभावों ने इन शोक सभाओं में या अपने वक्तव्यों द्वारा आचार्यजी के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित कीं और उनके व्यक्तित्व, विद्वत्ता और राष्ट्र सेवा की प्रशंसा की। राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्र प्रसादजी ने आचार्यजी के निधन पर अपनी संवेदना प्रकट करते हुए कहा कि 'उनकी मृत्यु से देश ने ज्ञान, ईमानदारी, कुरबानी, उच्चतम देशभक्ति तथा कर्तव्य परायणता से सम्पन्न व्यक्ति खो दिया'। उपराष्ट्रपति डाक्टर राधाकृष्णन ने कहा कि 'हमने एक बड़े देश भक्त, एक बड़े नेता और बहुत ही प्यारी हस्ती को खो दिया है। वे अपने आदर्शों, ईमानदारी और निर्णय की स्वतन्त्रता के लिए प्रसिद्ध थे'। प्रधान मन्त्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने राज्य सभा में कहा कि 'नरेन्द्र देवजी दुर्लभ गुणों के खान थे। उनके समान आत्मबल, मस्तिष्क, बौद्धिक विकास तथा मानसिक ईमानदारी दुर्लभ है'। बंगाल के मुख्य मन्त्री

डाक्टर विधानचन्द्र राय ने कहा कि 'उनसे अधिक ईमानदार आदमी मिलना कठिन है'। श्री जयप्रकाश नारायण ने कहा कि "विश्वव्यापी समाजवाद ने एक बड़ा विचारक नेता खो दिया है'। गृह मन्त्री पण्डित गोविन्दवल्लभ पन्त ने लोक सभा में संवेदना प्रकट करते हुए कहा कि 'आचार्य नरेन्द्र देव हमारी चोटी के नेताओं में से एक थे। वे गुजरती पीढ़ी के प्रतिभा सम्पन्न प्रतिनिधि थे। वे एक सुयोग्य शिक्षाशास्त्री थे, और उनके विभिन्न कार्यक्षेत्र होते हुए भी उनकी प्रमुख कामना देश सेवा तथा जनता का उत्थान ही रही। उन्होंने देश के लिए जीवन भर अपना सर्वस्व दिया। वे सहृदय, साधु तथा महामना थे, जिन्होंने दूसरों के लिए निःस्वार्थ कार्य किया और कभी भी किसी को कष्ट नहीं पहुँचाया। वे बहुत बड़े व्यक्ति थे। उन्होंने जो कुछ भी किया है वह इतिहास में उन लोगों की प्रेरणा के लिए सुरक्षित रहेगा जो एक आदर्श जीवन बिताते हुए हर अच्छे उद्देश्य के लिए कार्य करना चाहते हैं और अपने को दूसरों की सेवा व उत्थान के लिए तथा जीवन को अच्छा बनाने व सवाँरने के लिए अर्पित करना चाहते हैं'। कम्युनिस्ट नेता प्रो. हीरेण मुकर्जी ने कहा कि 'आचार्यजी निस्पृह थे। आज के संदर्भ में उनके स्थान को भरना किसी दूसरे व्यक्ति के लिए कठिन है'। आचार्य कृपालानीजी ने कहा कि 'वे हमारी पार्टी के शक्ति स्तम्भ थे। उनमें उच्च विद्वत्ता के साथ विनय था। वे सबके मित्र थे। जब उनकी राय दूसरों से नहीं मिलती थी, तब भी वे सबके साथ शिष्टाचार और मैत्री का व्यवहार रखते थे'। प्रजासोशलिस्ट पार्टी के प्रसिद्ध नेता श्री सारंगधर दास ने कहा कि 'विभिन्न प्रकार के संघर्षों के इस युग में ऐसा मनुष्य मिलना अत्यन्त दुर्लभ है जो जीवन पर्यन्त वर्गयुद्ध के सिद्धान्त में आस्था रखते हुए भी मानवता की प्रतिमूर्ति हो'। आचार्य विनोबा भावे ने कहा कि 'उनका जीवन सत्कार्यों से भरा था। वे एक निर्वैर पुरुष थे। उनके हृदय में किसी मनुष्य के लिए कोई दुर्भाव नहीं था।"

उत्तर प्रदेश की विधान सभा में मुख्य मन्त्री सम्पूर्णानन्दजी ने उनकी विद्वत्ता और नेतृत्व की सराहना करते हुए कहा कि 'उनसे स्फूर्ति पाकर कितने ही लोग स्वतन्त्रता संग्राम के सैनिक और सेनापति बने'। उन्होंने यह भी कहा कि 'जिन लोगों ने भारत में समाजवाद को एक विशेष स्थान दिया, भारतीय समाजवाद की क्या

रूपरेखा होनी चाहिये, इस चीज को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया, उन लोगों में नरेन्द्र देवजी का स्थान सर्वश्रेष्ठ है'। उत्तर प्रदेश की विधान सभा के अध्यक्ष श्री ए० जी० खेर ने कहा कि 'मैं जानता हूँ कि कांग्रेस के सिद्धान्तों और कार्यशैली में क्रान्तिकारी परिवर्तन उन्होंने ही कराया और उसी का फल मैं समझता हूँ यह हुआ कि बहुजन समाज के बीच में कांग्रेस की प्रतिष्ठा बढ़ी और स्वराज्य प्राप्ति में हमें आसानी हुई। यह उनका ही काम था कि कांग्रेस के अन्दर सोशलिस्ट पार्टी बना कर, उसके अन्दर रह कर कांग्रेस की विचारधारा में उन्होंने परिवर्तन कराया'।

मद्रास के राज्यपाल तथा नरेन्द्रदेवजी के मित्र श्री श्रीप्रकाशजी ने अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए कहा कि 'आचार्य नरेन्द्र देव बड़े स्निग्ध और अभिभावी व्यक्ति थे। उनके स्वभाव में अद्वितीय सन्तुलन और स्थिरता थी......वह बड़े विनोदी थे और वाग्विदग्ध भी...... मित्र के रूप में वह पर्वत के समान अडिग थे......शिक्षक के रूप में वह अद्वितीय थे......एक विद्वान के रूप में देखा जाय तो उनका पाण्डित्य अगाध था और जिन विभिन्न विषयों पर उनका अधिकार था, वे अत्यन्त व्यवस्थित और अपरिमित ज्ञान के विषय थे। प्रत्येक विषय में उनकी समान गति थी। राजनीतिज्ञ के रूप में उनमें सचाई और ईमानदारी की पराकाष्ठा देखने को मिलती थी। दूसरे के मत के प्रति वे सहिष्णु थे। वह उसे भी माफ कर देते थे, जिसके बारे में वह जानते थे कि उसने उन्हें और उनके ध्येय को आघात पहुँचाया है। परन्तु वह अपना कर्मपथ सदा निर्धारित कर लेते थे और भय, पक्षपात, स्नेह एवं मनोमालिन्य से ऊपर उठकर जिस राह को ठीक समझते उसी पर निर्द्वन्द्व होकर चलते थे। उनके देहावसान से देश ने एक महान् देश भक्त, संसार ने एक प्रकाण्ड विद्वान और उनके साथियों तथा मित्रों ने उदारता, सरलता और स्नेह की जीवित प्रतिमा खो दी है। दूसरों की सेवा में अपना जीवन होम देने वाले महात्मा के रूप में उनकी स्मृति और दृष्टान्त सदा जीवित रहेंगे। जिनके हम हजारों लाखों लोग ऋणी हैं, पर जो किसी का ऋणी न था; जिसने सदा देना ही जाना, लेना कभी नहीं। मुझे तो आशा नहीं कि मैं कभी फिर वैसे व्यक्ति के दर्शन कर पाऊँगा'।

३. आचार्यजी का व्यक्तित्व

युग पुरुष

आचार्य नरेन्द्र देव युगपुरुष थे। संसार के दूसरे युग पुरुषों की तरह वे भी अपनी पीढ़ी के प्रतिनिधि थे, अपने में अपनी पीढ़ी की आकाँक्षाओं को प्रतिबिम्बित करते थे। उनका जीवन और व्यक्तित्व आस पास के समाज से इतना समरस था कि सामाजिक इतिहास से अलग क्या था यह बताना कठिन है। उन पर समाज की अवस्था की, युग की प्रेरणाओं और चिन्तन की छाप थी। उनके जीवन में जो ओज, जो गतिशीलता, जो विभूतिमत्ता थी वह सामाजिक पार्श्वभूमि में ही प्रकट होती थी। इस पार्श्वभूमि में ही उनके व्यक्तित्व को समझा और आँका जा सकता है। पर उनके जीवन पर ज्ञान और परिस्थिति के स्थिर तत्त्वों से कहीं अधिक उनके प्रगतिशील-तत्त्वों और क्रान्तिकारी सम्भावनाओं का प्रभाव था। बहुजन समाज की आकाँक्षाओं की पूर्ति के लिये इन प्रगतिशील तत्त्वों का समुचित प्रयोग ही उनके अध्ययन, चिन्तन और मनन का विषय और उनके सार्वजनिक जीवन का उद्देश्य था। शक्तिशाली क्रान्तिकारी प्रेरणाओं से अनुप्राणित विद्याचरणसम्पन्न तपस्वी जीवन—अन्याय, अत्याचार, अनाचार तथा विघ्नबाधाओं से निरन्तर संघर्ष करते हुए—युगद्रष्टा के रूप में विकसित होता है। वह नवयुग का संदेश सुनाता, नवयुग की रूपरेखा उपस्थित करता, नवसंस्कृति का चित्रण करता और नवयुग के पथिकों को मार्गदर्शन कराता है।

आचार्यजी राष्ट्र की महान् विभूति थे। उन्होंने अपने स्वास्थ्य और स्वार्थ की चिन्ता छोड़ निष्काम भाव से चालीस वर्ष तक राष्ट्र तथा शोषित जनता की सेवा की। वे अन्याय के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने सारा जीवन अन्याय का विरोध किया। तीस वर्ष से अधिक साम्राज्यशाही से संघर्ष किया और बीस वर्ष से अधिक जनता के शोषण का विरोध किया। अन्याय करना और अन्याय को सहन करना दोनों ही उन्हें अखरते थे। अन्याय के विरुद्ध क्रान्तिकारी विद्रोह की भावना ही उनके नैतिक जीवन की आधार थी।

आचार्यजी का जीवन बहुत से सद्‌गुणों का समन्वय था। क्रान्तिकारी भावना और मानवता, शौर्य और करुणा, दृढ़ता और कोमलता, महत्त्वाकाँक्षा और निस्पृहता, तत्परता और निर्लिप्तता, राष्ट्रीय भावना और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण, विद्वत्ता और सरलता, निर्भीकता और मृदुता, आदर्शनिष्ठा और व्यावहारिकता जैसे सद्‌गुणों के अतुलनीय समन्वय से उनका जीवन विभूषित था। उत्साह, साहस और कर्तव्यपरायणता के साथ साथ सादगी, सहृदया और मैत्री तथा गम्भीरता के साथ साथ बच्चों जैसी चुलबुलाहट उनके जीवन की शोभा थी। उनके शील, शिष्टता और सौजन्य में बहुत आकर्षण था। सभी उन पर मुग्ध थे। कट्टर विरोधी भी उनके प्रशंसक थे, अपरिचित भी सम्पर्क में आने पर उनसे गद्‌गद् हो जाते थे।

विनय और निस्पृहता

आचार्यजी का विनय और उनकी निस्पृहता बेमिसाल थी। बड़े बड़े राजनीतिक पुरुषों में भी इस प्रकार की निस्पृहता बिरले ही पायी जाती है। बड़ी बड़ी कुर्बानी करने वाले नेता भी अपने अहम् की आहुति नहीं दे पाते। जैसे-जैसे वे ऊंचे उठते जाते हैं उनका अहम् भी बढ़ता जाता है, सारे समाज पर छा जाने का प्रयास करता है। राजनीतिक नेता साधारणतः दल और समाज दोनों पर अपना प्रभुत्त्व बनाये रखना देशहित के निमित्त अपना धर्म और अधिकार समझते हैं तथा उनके लिये सदा सचेष्ट रहते हैं। नाटकीय और विज्ञापनीय ढंगों का भी प्रयोग करते हैं। वे आगे चलकर अपने को सारे समाज से भी बड़ा समझने लगते हैं, केवल अपने को ही शानदार और समाज के लिये अपरिहार्य (indispensable) मानने लगते हैं और साथियों के साथ बराबरी का व्यवहार अनावश्यक समझते हैं। आचार्य नरेन्द्र देव इन बातों से बहुत दूर थे। उनमें विनय और नेतृत्व का अद्‌भुत समन्वय था। वे साथियों का नेतृत्व भी करते, उनसे विनती भी करते और कभी कभी तो हाथ जोड़कर जनसेवा की प्रार्थना करते। उनमें आत्माभिमान जरूर था, पर उनके विनय का उनके अहम् पर पूरा अधिकार था। उन्होंने कभी भी अपने को समाज से ऊंचा नहीं समझा, सदा अपने साथियों की मानमर्यादा का ध्यान रखा, अपने को आगे बढ़ाने के बजाय अपने साथियों को

आगे बढ़ाने की कोशिश की, उनकी शान प्रतिष्ठा को ही अपनी शान और प्रतिष्ठा समझा। ऐसा नहीं कि उन्हें कभी क्रोध आता ही न हो, पर दूसरों का क्रोध जितना उन्होंने बर्दाश्त किया, उतना क्रोध उन्होंने स्वयं दूसरों पर नहीं किया और जैसा वे स्वयं कहते थे कि क्रोध आ जाने पर वे अपने क्रोध पर घन्टों सन्ताप करते रहते थे।

उनके आचार व्यवहार में नाटकीयता और विज्ञापन का अभाव था। प्रतिभाशाली वक्ता होते हुए भी वे लगभग बारह वर्ष तक राष्ट्रीय कांग्रेस और अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशनों में यह समझकर चुप रहे कि किन्हीं दूसरे सदस्यों ने उनके विचारों को सभा के सामने रख दिया था। सन् १९३४ में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के बन जाने पर उन्होंने अपने मित्रों के आग्रह पर देश की राजनीति में आगे बढ़कर हिस्सा लिया, देश के सामने अपने विचार रखे तथा अपने सिद्धान्तों को समाजव्यापी और कांग्रेस में वाम पक्षीय शक्तियों को सबल बनाने की कोशिश की। इस जमाने में सन् १९३६ में वे प्रान्तीय कांग्रेस के अध्यक्ष और कांग्रेस वर्किंग कमेटी के सदस्य बने और उनकी प्रतिभा देश में फैली। उनके अपने प्रान्त में प्रगतिशील शक्तियों के संगठन ने गुटबन्दी और गुटसंघर्ष का रूप धारण किया। इस संघर्ष में कभी-कभी नरेन्द्र देवजी की राजनीति उनकी निस्पृहता पर हावी होती दिखाई देती थी। पर इस जमाने में भी आचार्यजी निस्पृही ही बने रहे। यह इस बात से साफ हो जाता है कि जब सन् १९३७ में कांग्रेस ने प्रान्तों में मन्त्रिमण्डल बनाने का निश्चय किया तब जहाँ उनके कई वामपक्षीय साथी और समाजवादी मित्रों ने राजसत्ता की ओर रुख किया, आचार्यजी ने मन्त्रिमण्डल में शामिल होने से इनकार कर दिया। इसमें संदेह नहीं कि यदि वे सत्ता को सिद्धान्तों पर प्राथमिकता देते, राजनीति को निस्पृहता पर हावी होने देते तो वे कांग्रेस के अध्यक्ष और अपने प्रदेश के मुख्यमन्त्री और केन्द्र के मन्त्री बन गये होते। पर पद और वैभव की लालसा से मुक्त आचार्यजी को राजसत्ता अपनी ओर नहीं खींच सकी। वे अपने सिद्धान्तों पर अडिग रहे।

जनतान्त्रिक व्यवहार

आचार्यजी का व्यवहार जनतान्त्रिक था। उनमें न तो विद्वत्ता का

दम्भ था और न नेतागीरी की अकड़। वे अपने व्यक्तित्व को समेट कर सब स्तर के कार्यकर्ताओं से मानवीय ढंग से सहयोगी की तरह मिलते, सबके मान और सेवा का आदर करते, सबके दुःख दर्द में शरीक होते, सबकी बात ध्यान से सुनते, अपने विचार उनके सामने रखते और अन्त में संस्था के निर्णय के आगे सिर झुकाते। वे संस्था की मानमर्यादा की रक्षा और वृद्धि अपना कर्तव्य समझते थे। उन्होंने कभी भी अपने को संस्था से ऊँचा नहीं समझा। उनके विचार में 'किसी संगठन का महत्त्व उसके उच्च नेताओं द्वारा नहीं, बल्कि उसके साधारण कार्यकर्ताओं द्वारा आँका जाता है'। उनका सहज स्वभाव उन्हें कार्यकर्ताओं की भूलों, कमियों और कमजोरियों की उपेक्षा करने को प्रेरित करता था, पर संस्था और आदर्शों के प्रति गद्दारी को देर तक सहन करना उनके लिये कठिन होता था और उनकी रक्षा के लिये वे कभी-कभी वज्र के समान कठोर हो जाते थे।

वे अपने उपदेशों से कार्यकर्ताओं को जीवन के उच्च आदर्शों और उनके कर्तव्यों का ज्ञान कराते थे। पर उपदेशों से कहीं अधिक वे अपने व्यवहार से उन्हें मानवीय जनतान्त्रिक व्यवहार की सीख देते थे और उनके जीवन को उच्च सामाजिक आदर्शों और भावनाओं से अनुप्राणित करते थे। साथी गंगाशरण सिंह के शब्दों में 'आचार्यजी का जीवन उस निर्धूम प्रकाशपुंज की तरह था जो आलोक के साथ-साथ दिल और दिमाग की पस्ती और अंधकार को दूर कर बौद्धिक और शारीरिक दोनों प्रकार की स्फूर्ति और गतिशीलता प्रदान करता था। जैसे एक जलते दीपक की दीपशिखा के सम्पर्क में आने से बिना जले हुये दीपक की बत्ती जल उठती है, उसी प्रकार उनके सम्पर्क में आने पर मनुष्य आलोकमय हो उठता था'।

बहुजन समाज के प्रति उनकी आस्था थी, सामान्यजन के प्रति उनका आदर था, जनहितवृद्धि उनके जीवन का लक्ष्य था। वे जनमत का सदा ध्यान रखते थे। जनजागृति पर तथा जनता की विधायक शक्ति पर उनका पूरा विश्वास था। उनका निश्चित मत था कि 'जनता को सुसंस्कृत बनाने का महान् उद्योग ही लोकतन्त्र की स्थापना में सच्चा सहायक हो सकता है'। इस काम में वे निरन्तर लगे रहते थे।

युवकों के मार्ग दर्शक

आचार्य नरेन्द्रदेव युवकों के शिक्षक और मार्ग दर्शक के साथ साथ उनके हृदय सम्राट् थे। उन्होंने अपने जीवन और भावनाओं को युवकों की आकाँक्षाओं और हितों से आत्मसात कर लिया था और उनकी सर्वतोमुखी अभिवृद्धि उनके जीवन का एक महान् व्रत था। वे युवकों के कष्टों में दुःखी, उनकी गलतियों से चिन्तित, उनके शुभ कामों से सुखी और उनके अदम्य साहस से स्वयं अनुप्राणित होते थे। आचार्यजी की सहानुभूति और सद्भावना हर परिस्थिति में नवयुवकों के साथ थी। उनका हितचिन्तन, उनका मार्गदर्शन आचार्यजी के नेतृत्व का एक विशिष्ट अंग था। अपने बहुधंधी सार्वजनिक जीवन के कारण आचार्यजी को अपने बच्चों के कष्टों और हितों की उपेक्षा करनी पड़ती थी, पर समाज के नवयुवकों के कष्टों और हितों की उपेक्षा वे एक महान् अपराध समझते थे और उनके कष्ट निवारण और हितवृद्धि के लिये वे सदा तैयार रहते थे। नवयुवकों की शिक्षा-दीक्षा तथा मार्गदर्शन में ही वे जीवन की अन्तिम घड़ियाँ लगाना चाहते थे। विद्यार्थियों से उनका विशेष स्नेह था, गरीव विद्यार्थियों की सहायता पहुँचाने में उन्हें विशेष सन्तोष होता था। राष्ट्र की महानाकाँक्षाओं से प्रेरित उनका नेतृत्व नवयुवकों को सदा सामाजिक आदर्शों और मानव मूल्यों की ओर संकेत करता, उन्हें समाजोपयोगी विद्याचरण सम्पन्न बनने की दीक्षा देता और उन्हें राष्ट्रसेवा के लिये प्रेरित करता था। उनका मार्गदर्शन नवयुवकों के लिये एक बड़ी देन थी। उनके व्यक्तित्व और नेतृत्व विशेषतः उनकी सहानुभूति और सद्भावना से आकर्षित नवयुवक उन पर लट्टू थे। जो नवयुवक उनकी विचारधारा से सहमत नहीं थे, वे भी उनके आगे नतमस्तक थे। उनके प्रति विद्यार्थी अतुलनीय श्रद्धा और विश्वास रखते थे। इस युग में बहुत कम नेता और कुलपति हुए जो आचार्यजी की तरह विद्यार्थियों के हृदय में घर कर पाये हों। आचार्यजी को दुःख इतना जरूर था कि जब तक वे लखनऊ विश्वविद्यालय और बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी के वाइसचान्सलर रहे विद्यार्थी ठीक रहे। पर उनके चले जाने पर उन विश्वविद्यालयों की दशा फिर बिगड़ने लगी और उनके कार्य का प्रभाव टिकाऊ साबित नहीं हुआ।

शिक्षक

आचार्य नरेन्द्रदेव का मत था कि एक शिक्षक में अपने विषय के समुचित ज्ञान के साथ साथ सदाचार, समाजहित प्रवृत्ति, विद्यार्थियों के प्रति सद्भावना, नवीन उद्देश्यों और आदर्शों पर विश्वास और आस्था तथा नये समाज की व्यवस्था में योगदान भी जरूरी है। आचार्यजी इन सभी गुणों से सम्पन्न और विभूषित थे। वे सच्चे मानों में शिक्षक थे। काशी विद्यापीठ में उन्होंने ज्ञान के साथ कर्म का भी पाठ पढ़ाया, विद्यार्थियों को समाज सेवा की दीक्षा दी और उनके साथ नये समाज को बनाने के लिये समय आने पर साम्राज्यशाही से संघर्ष किया। उनका और विद्यापीठ का आदर्श सम्बन्ध था। विद्यापीठ को आचार्यजी सरीखे आध्यापक पर गर्व था और वे भी एक बड़े नेता बन जाने पर भी विद्यापीठ को अपना मानते रहे और विद्यापीठ के अपने काम को 'स्थायी' समझते रहे।

विद्वान्

आचार्यजी उच्च कोटि के विद्वान्, विचारक, शिक्षक, लेखक और वक्ता थे। ज्ञान के क्षेत्र में वह पूरब-पश्चिम के भेद को नहीं मानते थे। ऐसा करना वह ज्ञान को सीमाओं में बाँधने की तरह गर्हित समझते थे। बौद्ध दर्शन और शील के अध्ययन अध्यापन में उन्हें विशेष आनन्द आता था। बौद्ध दर्शन की व्याख्या और विश्लेपण में वे अन्त तक लगे रहे। इसके लिये उन्होंने अभिधर्म कोश का फ्रान्सीसी भाषा से हिन्दी में अनुवाद किया और बौद्ध दर्शन और धर्म पर एक प्रमाणिक पुस्तक लिखी। बौद्ध दर्शन में भी महायान धर्म के विश्वजनीन सिद्धान्तों ने उन्हें विशेप तौर पर आकर्षित किया था। निःसन्देह उनका जीवन उनसे अनुप्राणित था, उनके व्यक्तित्व पर उनकी छाप थी। बौद्ध और जैन साहित्य को वे संस्कृतवाङ्मय का और भारतीय संस्कृति का अंग समझते थे और उनका अध्ययन वे भारतीय संस्कृति के समुचित ज्ञान के लिये जरूरी समझते थे। भारतीय दर्शन के सभी अंगों का उन्होंने अध्ययन और मनन किया था। भारतीय नीतिशास्त्र और समाजशास्त्र का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था और उनके विश्वजनीन सिद्धान्तों और दीर्घकालीन मूल्यों का उन्होंने गहरा मनन और चिन्तन किया था

और उन्हें अपने जीवन में आत्मसात करने की भरसक चेष्टा की थी। भारतीय संस्कृति और शील को जाने बिना आचार्यजी के व्यक्तित्व का समझना नामुमकिन है।

आचार्यजी ने पुरातत्त्व तथा प्राचीन भारतीय संस्कृति के साथ साथ यूरोप के अर्वाचीन इतिहास, संस्कृति, जन आन्दोलनों तथा विचारों का भी अध्ययन किया था। जब वह म्योर सन्ट्रेल कालिज के विद्यार्थी थे तभी उन्होंने इटली के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी नेता मेत्सनी के सभी उपलब्ध लेखों और पुस्तकों को पढ़ा था और उनसे क्रान्तिकारिता और व्यापक राष्ट्रीयता की प्रेरणा और शिक्षा प्राप्त की थी। उन्होंने यूरोप के दर्शन और नीतिशास्त्र का अध्ययन किया था और उससे किसी हद तक प्रभावित भी हुए थे। मिसाल के तौर पर काँट की तरह आचार्यजी भी ज्ञान को आन्तरिक चेतना और बाह्य परिस्थिति का सक्रिय संघात समझते थे, और दार्शनिक ग्रीन की तरह किसी कार्य की नैतिकता की परख परिणाम और प्रेरणा (motive) दोनों से करते थे। पाश्चात्य वाङ्मय में मार्क्सवाद का आचार्यजी ने गहरा अध्ययन, मनन, और चिन्तन किया था। बीस वर्ष से अधिक वे मार्क्सवाद के वैज्ञानिक, मानवीय और जनतान्त्रिक तत्त्वों पर आश्रित जनतान्त्रिक समाजवाद का प्रसार करते रहे।

चिन्तन

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के वीर सेनानी नरेन्द्रदेव ने उसके इतिहास, गतिविधि का चिन्तन एशिया के स्वतन्त्रता आन्दोलनों की पृष्ठभूमि में किया था। वह एशिया के विभिन्न राष्ट्रीय आन्दोलनों में एक धारा के प्रवाह का अनुभव करते थे और भारतीय आन्दोलन के समुचित ज्ञान के लिये एशिया के अन्य आन्दोलनों का ज्ञान भी जरूरी समझते थे। इस देश में शायद ही किसी दूसरे विद्वान् या नेता ने एशिया की गतिविधि की पार्श्वभूमि में भारत के अर्वाचीन इतिहास का ऐसा सुन्दर अध्ययन या अध्यापन किया हो। देश के अधिकांश विद्वान् राष्ट्रीय आन्दोलन को कतिपय नेताओं के नेतृत्व का परिणाम समझते हैं और इन नेताओं के आदेश और कार्यों के ज्ञान और विश्लेषण द्वारा राष्ट्रीय आन्दोलन की गतिविधि तथा प्रगति को समझने की कोशिश करते

हैं। आचार्यजी नेताओं के नेतृत्व के महत्त्व को तसलीम करते थे और जानते थे कि सही नेतृत्व के अभाव में राष्ट्रीय अन्दोलन शिथिल भी पड़ सकता है, गलत मार्ग पर भी चला जा सकता है। पर वह जन-आन्दोलन के रूप में राष्ट्रीय आन्दोलन का दर्शन करते थे। उनके विचार में राष्ट्रीय आन्दोलन की गतिविधि, रूपरेखा बहुत हद तक राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति की पार्श्वभूमि में जनजागृति, जन-प्रेरणाओं, जन-आकांक्षाओं और जनशक्ति पर निर्भर होती है और जनता की जागृति, प्रेरणा और आकाँक्षा पर आर्थिक और सामाजिक स्थिति का गहरा प्रभाव होता है। इस दृष्टिकोण से ही उन्होंने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का अध्ययन अध्यापन किया, उस पर चिन्तन, मनन किया और उसे दिशा देने की कोशिश की। वे अपने विद्यार्थियों को राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास ही नहीं पढ़ाते थे उन्हें उसमें भाग लेना भी सिखाते थे। इस तरह उनके अध्यापन में गुरू और नेता दोनों का काम साथ-साथ चलता था।

दार्शनिक राजनीतिज्ञ

आचार्यजी की पीढ़ी के कई विद्वान् राष्ट्रीय आन्दोलन और मार्क्सवाद को छोड़कर बाकी विषयों में से किसी एक दो विषय में आचार्यजी से अधिक ज्ञान जरूर रखते थे। फिर भी प्राचीन भारत और अर्वाचीन यूरोप की इतनी विद्याओं का इतना व्यापक ज्ञान भारत में शायद ही किसी राजनीतिक नेता का हो, विद्वानों में भी बिरले ही मिलेगा। वह अवश्य ही दार्शनिक राजनीतिज्ञ (Philosopher Statesman) थे। उनके ज्ञान के सम्बन्ध में साथी रामवृक्ष बेनीपुरी जी ने ठीक ही कहा है कि "ज्ञान की विविध धाराएँ उनमें आकर इस तरह समाहित हुई थीं जिस प्रकार सागर में नदियाँ और ज्ञान की किसी धारा के सम्बन्ध में उनसे बातें की जाएँ लगता था आप किसी वायुयान चालक की बगल में बैठे हैं, जो आपको ऊँचे से ऊँचा ले जाकर अन्तरिक्ष के उन अनेक रहस्यों को प्रत्यक्ष दिखला रहा है, जिसकी कल्पना तक हमारे लिये सम्भव नहीं है। यदि विविध विद्याओं का उनका ज्ञान समुद्र के जल की तरह समरस था, तो उसका स्वाद और प्रभाव गंगा जल की तरह मीठा, शीतल, उत्पादक और जीवन वर्धक था। गो कभी कभी उनका ज्ञान समुद्र की गडगडाहट का रूप धारण

कर लेता था, पर साधारणतः उसकी गति तेज, स्पष्ट और मधुर होती थी। जहाँ उनका ज्ञान श्रोता के विवेक को ऊँचा उठाकर उसे अन्तरिक्ष के रहस्यों की जानकारी कराता था, वहाँ वह श्रोता के अन्तःस्थल में घुसकर उनके अन्तःकरण को दीप्यमान कर देता था और उसकी सद्-प्रेरणाओं को जगा देता था'।

विशिष्टता

परिपक्वता, समाजोपयोगिता और प्रगतिशीलता उनके ज्ञान और चिन्तन की विशेषताएँ थीं। वे जब पढ़ते थे तब साथ साथ अपने विवेक से पाठ्य विषय की परख भी करते जाते थे और जरूरत पड़ने पर चिन्तन भी करते थे। इस तरह वे ग्राह्य विचार को ग्रहण कर उसे अपने ज्ञान भंडार में उचित स्थान देते थे, उसे अपने जीवन का अंग बना लेते थे। अच्छा पका भोजन खूब पच जाने पर एक रस, एक रूप, एक रंग हो जाता है। यही दशा आचार्य जी के ज्ञान की थी। विविध स्थानों से इकठ्ठा किये ज्ञान को उन्होंने अपने विवेक और अनुभव से मन्थन करके चिन्तन और मनन से पका कर एक रस कर लिया था। उनके विचारों में विरोधाभास बहुत कम, शायद बिरले ही, मिलता था। उनकी विचार धारा में सर्वतोमुखी प्रगतिशीलता और निरन्तर विकास था। यदि किसी विषय पर उनके पुराने और नये लेखों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो उनमें विचारों का विकास मिल सकता हैं, विरोध मिलना बहुत कठिन है।

नरेन्द्रदेवजी दो युगों के संक्रमण काल के विचारक थे। इस काल के बहुत से विचारकों के विचार भी बहुत हद तक संक्रमणात्मक हो जाते हैं, बदलती दुनिया के साथ साथ बदलते हैं, कभी एक बात का समर्थन करते हैं तो कभी दूसरी बात का समर्थन करते हैं, किसी एक विषय में प्रगतिशील तो किसी दूसरे विषय में प्रतिक्रियावादी होते हैं। इस संक्रमणकाल में शक्तियों का सन्तुलन भी बदलता रहता है, कभी एक शक्ति तो कभी दूसरी शक्ति समाज पर हावी हो जाती है, परिस्थितियों के वशीभूत विचारक बलवती शक्ति के साथ हो लेते हैं, उसका गुणगान करने लगते हैं। इस काल के कुछ विचारक बलवती शक्ति के दोषों से क्षुब्ध हो उनकी प्रतिक्रिया के प्रयास में अपना

सन्तुलन खो देते है, अपने पुराने विचारों को तिलाञ्जलि दे किन्हीं दूसरे विचारों या मार्ग की खोज में भटकने लगते हैं या मानव के भविष्य पर से ही विश्वास उठा लेते हैं। यह कोई बात भी आचार्यजी पर लागू नहीं होती। उन्होंने बड़े सोचकर विचारों को अपनाया, मार्ग को पकड़ा, परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अपने ज्ञान को समाजहित में लगाया, पर बदलती दुनिया को अपने ज्ञान पर हावी नहीं होने दिया, जिस मार्ग को पकड़ा उस पर आखिर दम तक चलते रहे, जिस सिद्धान्त को ठीक समझा उस पर अडिग रहे और देश के लिये विरोधी तत्त्वों से रहित जीवन-दर्शन छोड़ गये।

विचार और आचार का समन्वय

आचार्यजी कहा करते थे कि 'विचार के लिये आचार की कसौटी तथा भावना और समाजहित बुद्धि का आधार चाहिए'। यह उनका स्वयं सिद्ध सिद्धान्त था। उनके विचारों को आचार की कसौटी पर परखा जा सकता है, समाजहित की दृष्टि से उनकी जांच की जा सकती है और सद्भावना की उसमें खोज की जा सकती है। वे इन सभी परीक्षाओं में सफल सिद्ध होंगे। उनके विचार और आचार में मेल था। जिन बातों को वे ठीक समझते थे उन्हीं को प्रतिपादित करते थे, उन्हीं पर चलते थे। उनके करीब करीब सभी विचार उनके अपने आचार व्यवहार से पुष्ट थे। संसार के करीब करीब सभी मनोवैज्ञानिकों की तरह आचार्यजी भी विवेक और भावना के योग को जरूरी समझते थे और उनके विचारों में यह योग अवश्य पाया जाता है। उनका चिन्तन और मनन सद्भावनाओं से प्रेरित और अनुप्रणित था और उनके विचार जनहित की भावना से ओतप्रोत थे, विवेक के साथ साथ सद्भावना भी उनका आधार था। आचार्यजी का अध्ययन सोद्देश्य था। उनका निश्चित मत था कि ज्ञान जीवन के लिये है, जीवन के लक्ष्य की सिद्धि ही उसका उद्देश्य है। उनका यह भी विचार था कि जीवन के लक्ष्य की सिद्धि के लिये समाजहित की पुष्टि जरूरी है। वे जीवन के लिये आजीविका भी जरूरी समझते थे और अर्थकरी विद्या के महत्त्व को तसलीम करते थे, उसकी समुचित व्यवस्था पर जोर देते थे। पर अर्थकरी विद्या में उनकी कोई निजी दिलचस्पी नहीं थी। समाज का हित ही उनके अपने जीवन का

उद्देश्य था और इस उद्देश्य पर ही उनके विचार, विवेक और ज्ञान आधारित थे। वे तो अर्थकरी विद्या को भी समाजहित पर आधारित करना चाहते थे, क्योंकि उनके विचार में समाजहित की पुष्टि ही जीविका के साधनों का सही आधार है। विवेक, चिन्तन और मनन के साथ साथ आचारए, सद्भावना और समाजहित का योग ही आचार्यजी के विचारों का वल था।

लेखक और वक्ता

आचार्य जी की वाणी और लेखनी में बड़ी शक्ति थी। उनकी प्रतिभा में बड़ा आकर्षण और प्रभाव था। वाणी और लेखनी की यह शक्ति उनके प्रवाह और लालित्य के साथ-साथ आचार्यजी के व्यक्तित्व में थी। उनके लेख और भाषण उनकी सद्भावना से अनुप्राणित होते थे, युग के सामाजिक आदर्शों के प्रतीक होते थे। उनमें उनकी विद्वत्ता के साथ साथ उनकी भावनाओं की अभिव्यक्ति होती थी। उनके जीवन में आचार, व्यवहार और विचार का जो अद्भुत समन्वय था वही उनकी वाणी और लेखनी की प्रतिभा का मूल स्रोत था। प्रचार उनका व्यापार नहीं, वल्कि उनके जीवन के लक्ष्य का एक साधन था। उन्हें नयी वात कहने में आनन्द आता था, उनके प्रत्येक भाषण में कोई न कोई नयी बात जरूर होती थी। पर वे मौलिकता के फेर में नहीं थे, मौलिकता को अपने जीवन का लक्ष्य नहीं समझते थे। वे जानते थे कि सजीव विचारों और अनुभवों का व्यावहारिक समन्वय ही रचनात्मक विचारों के विकास की प्रक्रिया है। उनका प्रत्येक लेख और भाषण प्रामणिक विचारों और सुनिश्चित अनुभवों का समन्वय होता था। उनके विचार परिपक्व, गतिशील, प्रगतिशील और क्रियात्मक होते थे। आचार्यजी को भाषा के लालित्य और प्रवाह में आनन्द आता था। उन्हें भाषा की खिचड़ी पसन्द नहीं थी। वे जिस भाषा में वोलना या लिखना शुरू करते थे, उस भाषा के शब्दों का ही प्रयोग करते थे। उनके भाषण का ढंग बड़ा रोचक होता था। गो उनकी शैली और उनका शब्द विन्यास जनसाधारण के लिये जटिल होता था, पर उनमें शब्दों के मायाजाल का अभाव होता था। वे शब्द पाण्डित्य के विरोधी थे, वाक्यों के चक्र को विद्वत्ता और मौलिकता नहीं समझते थे। विचारों को प्रतिपादित करने के वजाय फिक्रेबाजी के जरिए

जनता को अनुप्राणित करना वे बेकार समझते थे। वे कहा करते थे कि फिक्रे गढ़ना कोई मौलिकता नहीं है।

साहित्यिक

'जीवन के केन्द्र में मानव को प्रतिष्ठित करके चलने वाला साहित्य' ही आचार्यजी की दृष्टि में प्रगतिशील साहित्य था। वे उसके सृजन के लिये विश्वव्यापी जीवन दृष्टिकोण जरूरी समझते थे। वे प्रगतिशील साहित्यिक का कर्तव्य समझते थे कि वह अतीत के 'साधक तत्त्वों' को ग्रहण करे, 'बाधक तत्त्वों का परित्याग करे', 'जीवन शक्तियों और समस्याओं का गहराई से अध्ययन करे, समाज के वर्तमान रूप का चित्रण करे, जनता की मूक अभिलाषाओं को वाणी दे, इतिहास की जीवन दायनी शक्तियों का समर्थन करते हुए जनता का मार्ग दर्शन करे'। आचार्यजी में यह सभी गुण मौजूद थे। उनमें अवश्य ही उच्चकोटि के प्रगतिशील साहित्यिक की क्षमता थी। आचार्यजी का विचार था कि 'जीवन संघर्ष से प्रथक् रहकर सच्चे और प्रगतिशील साहित्य की सृष्टि सम्भव नहीं है। परन्तु संघर्ष के सम्बन्ध में निष्पक्ष सम्मति बना सकने और साहित्य सृजन के लिये अवकाश प्राप्त करने के लिये संघर्ष में सक्रिय भाग लेने से कलाकार को बचना पड़ता है'। राजनीति ही आचार्य जी की मूल प्रेरणा थी। वे अपने को राजनीतिक संघर्ष से अलग नहीं रख सकते थे। इसलिये वे स्वयं प्रगतिशील साहित्य का सृजन नहीं कर सके थे। वे यह भी मानते थे कि जनशिक्षा के लिये ऐसे साहित्य की जरूरत है जिसे जनसाधारण आसानी से समझ सके। वे स्वयं यह नहीं कर पाये। शायद उन्होंने इसकी कोशिश ही नहीं की। उनके विचार स्पष्ट होते थे, पर भाषा अवश्य कठिन होती थी।

मानव

आचार्यजी ने बहुत से क्षेत्रों में काम किया और सभी क्षेत्रों में ख्याति प्राप्त की। पर उनके मानव की प्रतिष्ठा उनकी सब ख्यातियों से अधिक व्यापक थी। मानव नरेन्द्रदेव सबको प्रिय था, उनके विरोधी उनके व्यक्तिगत व्यवहार के प्रशंसक थे। आचार्यजी मानव व्यक्तित्व का आदर करते, हरेक में मानव का दर्शन करते, छोटे से छोटे से भी मान-

वोचित ढंग से मिलते थे, जो जितना छोटा होता था उससे उतना ही अधिक स्नेह करते थे, अपने नौकरों से बच्चों जैसा प्रेम करते थे। उनके पास सब कोटि के लोग आते थे, एक दरबार सा लगा रहता था। वे घन्टों उन्हें अपनी कथा व्यथा सुनाते रहते। नरेन्द्रदेवजी सबका स्वागत करते, सबकी कुशल क्षेम पूछते, सबसे प्रेम से मिलते, सबकी बात शान्ति से सुनते और जरूरत पड़ने पर थोड़े से शब्दों में नेक सलाह भी दे देते। उनके कई घनिष्ट मित्र समझते थे कि वे अपना समय वरबाद करते हैं। पर उनका विचार था कि सबके कष्टों को दूर करना किसी के लिये सम्भव नहीं, अगर काम न भी कर सको तो भी बात सुनना उचित ही है, उससे दुःख पाने वाले को कुछ संतोष होता ही है। संकोच बस उन्हें अनर्गल और वेतुकी बातें भी सुननी पड़ती थीं। यह पूछने पर कि आप इन्हें कैसे सहन करते हैं, वे कहते कि बहुत कष्ट होता है, पर क्रोध करने से भी क्या लाभ। कष्ट सहकर भी वेकार आदमी के साथ सौजन्य का पालन करना वे अपना धर्म समझते थे। उन्हें जब यह सलाह दी गयी कि वे प्रत्येक दिन कुछ देर के लिये मौन रहें तो उन्होंने कहा कि यह 'लटकेबाजी' मुझे पसन्द नहीं। उनका प्रेम, उनका सौजन्य, उनकी मुस्कराहट, उनकी नेक सलाह सबके लिये थी। उनकी सहृदयता और हंसी मजाक पर भी सभी साथियों और मित्रों का थोड़ा बहुत अधिकार था। उनकी चुलबुलाहट, विनोद और मजाक सभी साथियों और मित्रों का दिल बाग-बाग कर देता था। उनके कमरे में उनके साथ सोने का अवसर ही उनके कुछ अनन्य मित्रों का विशेष अधिकार समझा जा सकता था।

गो वे जानते थे कि 'सियासत की दोस्ती पायदार नहीं होती', फिर भी वे अपनी तरफ से मैत्री को राजनीतिक दलबन्दी से अलग रखते हुए राजनीतिक मतभेद हो जाने पर भी पुराने मित्रों से मैत्री और स्नेह बनाये रखना चाहते थे। इस काम में उन्हें काफी सफलता भी मिली। जब सन् १९४८ में उन्होंने कांग्रेस छोड़ी तब उनका बहुत से पुराने मित्रों और साथियों से राजनीतिक विछोह हुआ, पर उनमें से बहुतों से उनका पुराना पारस्परिक स्नेह बना रहा। पर इस सम्बन्ध में अपने जीवन की अन्तिम घड़ियों में उन्हें कुछ कड़वी घूँटे भी पीनी पड़ीं, जिनकी कड़वाहट आचार्यजी जैसे सहनशील के लिये भी बर्दाश्त करना कठिन हो जाता था।

कार्यकर्ताओं से सम्बन्ध

अपनी पार्टी के अधिकांश कार्यकर्ताओं के साथ नरेन्द्रदेवजी के सम्बन्ध बहुत ही मधुर थे। उनका स्नेह कार्यकर्ताओं को मुग्ध कर देता था। जब कार्यकर्ता उनके घर जाते और वे स्वस्थ होते तो नरेन्द्रदेवजी स्वयं उनका आतिथ्य करते और उनसे बात-चीत करके उनकी निजी कठिनाइयों तक को दूर करने की कोशिश करते। श्री उमाशंकर मिश्र तो उनकी विद्वत्ता और स्नेह से इतने प्रभावित हैं कि वे जहाँ आचर्यजी को आदि शंकराचार्य के बाद सबसे बड़ा विद्वान् मानते हैं, वहाँ उनकी चर्चा करते समय मिश्रजी का गला रुँध जाता है, आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगती है और उनके लिये आचार्यजी के सम्बन्ध में कुछ कहना असम्भव हो जाता है।

पर संसार शुभ-अशुभ का ताना-बाना है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में दोनों प्रकार की घटनाओं का सामना करना ही पड़ता है। नरेन्द्रदेवजी को भी अपने सार्वजनिक जीवन में अक्सर अशुभ घटनाओं और व्यवहार का सामना करना पड़ा। वे इन्हें काफी धैर्य से सहन करते थे। पर जब कोई साथी या कार्यकर्ता उनकी सचाई या नेकनियती पर आघात करता, तब उन्हें काफी क्षोभ होता था और कभी-कभी ये विह्वल और उत्तेजित भी हो जाते थे।

उदारता

अपने पिता की तरह नरेन्द्रदेवजी भी बहुत उदार थे। पर जहाँ उनके पिता साधु संन्यासियों की सेवा में बहुत-सा धन लगा देने के बाद भी अपनी आमदनी का एक बड़ा अंश परिवार के लिये बचा रखते थे, वहाँ नरेन्द्रदेवजी अपने पारिवारिक उत्तरदायित्व पर विशेष ध्यान दिये बगैर अपनी छोटी-सी आमदनी का एक बड़ा अंश समाजसेवा में खर्च कर देते थे। इसके कारण नरेन्द्रदेवजी को आर्थिक संकट का सामना करना पड़ता था। इस संकट के निवारण के लिये उन्हें एक बार मुगलकाल की रागरागिनियों की एक सुन्दर चित्रावलि जो उनकी पैतृक सम्पत्ति थी बेंचनी पड़ी। इस चित्रावलि में एक सौ चित्र थे जिनमें विभिन्न रागिनियाँ चित्रित थीं और प्रत्येक चित्र के नीचे दोहों में रागिनी का वर्णन था। चित्रों पर सुनहरी

काम था, और ये चित्र उस समय भी नये दिखाई देते थे। लंका के प्रसिद्ध कलाविशेषज्ञ श्री कुमारस्वामी इस चित्रावलि के लिये पच्चीस हजार रुपये देने को तैयार थे। पर आचार्य नरेन्द्रदेव राष्ट्र की इस सम्पत्ति को देश से बाहर भेजना ठीक नहीं समझते थे। अतः उन्होंने केवल ढाई हजार रुपये में उस चित्रावलि को इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के हाथ बेंच दिया। आचार्य नरेन्द्रदेव के मित्र ठाकुर जयदेव सिंह, जिनके माध्यम से इस चित्रावलि की विक्री हुई, इसकी चर्चा करते हुए रो पड़ते हैं।

शौक

नरेन्द्रदेवजी खाने के बहुत शौकीन थे। नौजवानी में मीठे तथा चटपटे सभी प्रकार के अच्छे खाने उन्हें पसन्द थे। फैजाबाद में गरीवा हलवाई की रवड़ी, पांडेपुर की गुलाव जामुन आदि वे बहुत चाव से खाते थे। कुल्फी का वर्फ और दही की चाट भी उन्हें बहुत ही प्रिय थीं। जब वे किसी शहर में जाते उन्हें याद आ जाता कि यहाँ कौन-सी मिठाई अच्छी वनती है। फिर क्या था वह चीज मेजवान द्वारा उन्हें पेश हो जाती। पर बीमारी के कारण उन्हें खाने पर काफी रोकथाम रखनी पड़ती थी। आगे चलकर तो काफी, दही और चावल ही उनकी खुराक बन गये थे। कभी-कभी तो काफी के दो चार प्याले पर ही उन्हें गुजर करनी पड़ती थी। फिर भी खाने का शौक उन्हें दूसरी अच्छी चीजें खाने को प्रेरित करता और जरूरी परहेज की अवहेलना करते हुए वे मीठी तथा चटपटी चीजें खा लेते थे जिससे कभी-कभी नुकसान भी हो जाता था। वे बहुत जल्दी-जल्दी खाते थे। इसीलिए काशी विद्यापीठ में उनके मित्रों ने उनके खाने के ढंग को पंजाब मेल की संज्ञा दे दी थी। डाक्टर भगवान्‌दासजी ने कई वार धीरे-धीरे खूब चवाकर भोजन करने की उन्हें सलाह दी। पर उनके परामर्श का भी नरेन्द्रदेवजी पर कोई असर नहीं हुआ।

बातचीत

नरेन्द्रदेवजी बातचीत भी बहुत जोर से करते थे। छोटे-से क्लास में भी वे ऊँची आवाज से लेक्चर देते थे। सार्वजनिक सभाओं में तो वे विशेपतौर पर बहुत भावावेश में भरकर बहुत तेज गति से ऊँची आवाज में भाषण देते थे। इसका उनके स्वास्थ्य पर बुरा

असर पड़ता था। पर बातचीत करते और भाषण देते समय उन्हें इसका ध्यान ही नहीं रहता था। बहुत कमजोर हो जाने पर उन्होंने अपनी भाषण शैली में कुछ तबदीली जरूर की थी। उस नयी शैली में भी प्रवाह, गति और ओज था, पर उसमें तेजी कुछ कम थी। पर उनके स्वास्थ्य के लिये इस तेजी को भी सहन करना कठिन होता था।

बीमारी

तन्दुरस्ती आचार्यजी की सबसे बड़ी कमजोरी थी। वे अपनी बीमारी से मजबूर थे, जितना करना चाहते थे नहीं कर पाते थे, दिल मसोस कर उन्हें रह जाना पड़ता था। जिस काम को वही अच्छी तौर पर कर सकते थे, उसके लिये भी उन्हें दूसरों का सहारा लेना पड़ता था, जो अक्सर काम सम्भालने के बजाय बिगाड़ देते थे, तरह तरह की उलझनें पैदा कर देते थे। गो वे बीमारी में भी बहुत हिम्मत से अपने कर्तव्य का पालन करते थे, बहुत ही ओजस्वी भाषण देते थे, जनता में और कार्यकर्ताओं में नया जोश फूंक देते थे, पर फिर भी आखिर इन्सान ही थे। अक्सर उन्हें ऐनवक्त पर अपना कार्यक्रम स्थगित करके साथियों को निराश करना पड़ता था। इस सबका उनके मन पर भी असर होता था, उनको यह दुःख सताने लगता था कि वे अपने जीवन में जो करना चाहते हैं नहीं कर पाते। पर जब वे जरा अच्छे हुए फिर हिम्मत, उत्साह और लगन से काम में लग जाते और अपनी चुलबुलाहट, हंसी मजाक से सबको खुश और प्रोत्साहित करने लगते। अपनी सख्त बीमारी में भी उन्होंने जिस तरह सन् १९३० से लेकर सन् १९४६ तक कई वार जेल की यातनाएँ सहीं, वह उनके साहस और राष्ट्र-प्रेम का उच्चतम प्रमाण है।

अव्यवस्था

बीमारी और संकोच के कारण उनके रहन सहन में अव्यवस्था पैदा हो गयी थी। पर उनकी लाजवाब सादगी में यह अव्यवस्था भी खप जाती थी और कभी कभी उनकी सादगी को अधिक प्यारा और उनके सौजन्य को अधिक आकर्षक बना देती थी। यह अव्यवस्था भी केवल भौतिक ही थी। उनके मन और बुद्धि से

इसका कोई सम्बन्ध नहीं था। वे मानसिक सन्तुलन, बौद्धिक सुव्यवस्था और विचारों की स्पष्टता के लिये प्रसिद्ध थे। अपने उत्तरदायित्व की उचित व्यवस्था का भी वे सदा ध्यान रखते थे।

विनोद

आचार्य नरेन्द्रदेवजी बहुत ही विनोदप्रिय व्यक्ति थे। उनके गम्भीर भाषणों में बहुधा हास्य और व्यंग का पुट रहता था। कभी कभी तो वह मजाक में ही दूसरों की बातों का विश्लेषण करते। इसके सबसे उत्तम उदाहरण आचार्यजी के वे भाषण हैं जो उन्होंने सन् १९३७-३९ में यू०पी० विधान सभा में जमींदार सदस्यों के उत्तर में दिये थे।

आचार्यजी की मीठी चुटकी भी दूसरों की नुकताचीनी में बहुत कारगर साबित होती थी। साथी मेहरअलीजी लिखते हैं कि 'एक अवसर पर कांग्रेस वर्किंग कमेटी के प्रस्ताव में कोई संशोधन प्रस्तुत किया जाय अथवा नहीं इस विषय पर कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की राष्ट्रीय कार्य समिति की सर्वमान्य राय थी कि वर्किंग कमेटी के प्रस्ताव का ही समर्थन किया जाय। पर एक प्रभावशाल सदस्य बार बार कहते थे कि अपनी वामपक्षीय स्थिति को बनाये रखने के लिये कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी को संशोधन जरूर पेश करना चाहिए। इस पर आचार्यजी ने बड़ी गम्भीर मुद्रा में कहा कि 'हां, मैं अपने मित्र से बिलकुल सहमत हूं। यह पार्टी वर्किंग कमेटी के प्रस्तावों में संशोधन प्रस्तुत करने के लिये ही तो विशेषरूप से बनायी गयी है। अगर हमने संशोधन पेश नहीं किया तो हम बिलकुल खत्म हो जायेगें, यह सुनकर सब हंस पड़े और वह सज्जन भी चुप हो गये'।

उनकी हंसी मजाक भी विभिन्न कोटि के लोगों के साथ विभिन्न प्रकार की होती थी। जहां वे अपने से बड़ों से मजाक करने में संकोच करते थे, वहां अपने से जो बहुत छोटे होते उनसे बहुत मीठा और बहुधा शिक्षाप्रद विनोद ही करते थे, कुछ व्यक्तियों से तो वे केवल हँसी मजाक ही करते, उनसे कभी कोई गम्भीर बात नहीं करते। पण्डित बनारसीप्रसाद चतुर्वेदीजी उनमें से एक हैं। उनका कहना है कि आचार्यजी से उनकी कभी कोई गम्भीर बात

नहीं हो पायी और जब एक बार उन्होंने आचार्यजी से गम्भीर बात करने को कहा तो आचार्यजी ने हँसकर कहा कि वे आदमी की सूरत देखकर बात करते हैं। एक दूसरी बार आचार्य नरेन्द्रदेव ने चतुर्वेदीजी से मजाक में कहा 'हसूले आर्जू की है तवक्को ऐसे गाफिल से। जो दिल में रहके भी वाकिफ न हो बेताबिये दिल से'। कुछ ऐसे व्यक्ति भी थे जिनसे आचार्यजी गम्भीर विषयों पर बातें भी करते और उनके साथ हँसी मज़ाक भी करते। इनमें से कुछ तो ऐसे थे जो हँसी का कोई उत्तर नहीं देते, या तो चुप रहते या उनके साथ स्वयं भी हँस देते, और कुछ ऐसे थे जो हँसी का जवाब हँसी में देते। इस पुस्तक का लेखक उन व्यक्तियों में से है जो आचार्य जी की गम्भीर गोष्ठी और विनोद दोनों का पात्र था, पर जो उनकी हँसी का कभी जवाब नहीं देता था और जिसने अपने २४ वर्ष के सम्पर्क में शायद ही चार पाँच बार उनसे स्वयं मजाक करने की चेष्टा की हो। दूसरी ओर स्वर्गीय श्री फूलनप्रसाद जी वर्मा उन व्यक्तियों में से थे जो आचार्यजी से मज़ाक के जवाब में मज़ाक भी करते और सम्भवतः उनके मित्रों में श्री जयप्रकाश नारायण उन व्यक्तियों में से हैं जिनसे उन्होंने कभी मज़ाक किया हो।

मज़ाक में भी वह सदा मर्यादा और शिष्टता का ध्यान रखना जरूरी समझते थे। नीचे स्तर की नारेबाजी, भद्दे मजाक और नैतिक उछृंखलता को—वे 'वाहियात' बात समझते थे। शील और शिष्टता का पालन वे हर हालत में आवश्यक समझते थे, उनका उल्लंघन उन्हें अखरता था। वे उसे रोकने की कोशिश करते थे। जहाँ सन् १९४९ में किसान प्रदर्शन के अवसर पर उन्होंने 'किसान जागा पन्त भागा' का नारा लगाने को मना किया, वहाँ उन्होंने लखनऊ की एक सार्वजनिक सभा में एक नवयुवक को एक ऐसी गजल पढ़ने से रोका कि जिसमें पूँजीवादी व्यवस्था में शोषित जनता की दशा का वर्णन करते हुए कुछ नीचे स्तर की भद्दी बातों का जिक्र था। मजाक में भी मर्यादा का उन्हें कितना ध्यान रहता था इसका पता इस बात से भी लग सकता है कि जब एकबार वे देश के कतिपय नेताओं और मन्त्रियों की निजी फजूल खर्ची पर निजी बातचीत में मजाक उड़ा रहे थे, तब किसी ने कहा कि गान्धीजी पर भी आठ रुपये प्रतिदिन खर्च होते हैं।

यह सुनकर आचार्यजी एकदम गम्भीर हो गये और बहुत आवेग में उन्होंने कहा कि 'यदि गान्धी जी पर आठ रुपये रोज खर्च होते हैं तो वे आठ सौ रुपये रोज का काम भी तो करते हैं'।

मित्रों और साथियों के साथ एक तरफा विनोद भी दिलवस्तगी का एक अच्छा साधन है। छोटों के साथ मीठा विनोद सहृदयता और वात्सल्य प्रेम का द्योतक और शिक्षा का मधुर उपाय है। पर मजाक का मजा तो मजाक के जवाब में ही है। इस हाजिर जवाबी में भी आचार्यजी किसी से कम नहीं थे। मशहूर है कि जब एकबार आचार्यजी के बहुत अस्वस्थ हो जाने पर पण्डित गोविन्द वल्लभ पन्त उन्हें देखने गये तब उनकी मौजूदगी में एक गधे ने रेंकना शुरू किया। पन्तजी ने विनोद में कहा कि क्या यहाँ गधे रहते हैं। इस पर आचार्यजी ने कहा कि रहते तो नहीं कभी कभी चले आते हैं।

आचार्यजी की हँसी मजाक किसी हद तक उनके दिल बहलाने का एक साधन था, उनकी आन्तरिक वेदना को कम करने का उपाय था। पर यह उपाय इस काम में सदा सफल नहीं हो पाता था। एकबार पाकिस्तान में कुछ फौजी अफसरों के षड्यन्त्र का समाचार पढ़कर आचार्यजी बहुत व्यग्र हो गये। वेदना का कारण पूछने पर उन्होंने बताया कि मध्य एशिया का यह रोग खिसकते खिसकते पाकिस्तान आ गया है, कहीं हमारे देश में भी इसका प्रभाव न पड़ जाय। उनकी इस व्यग्रता को हँसी के जरिये दूर करने के लिये इस पुस्तक के लेखक ने उनसे हँसते हुए कहा 'काजी काजी तुम क्यों दुबले, शहर का अंदेशा। जब कोई आपसे कुछ पूछता ही नहीं कि देश का प्रबन्ध कैसे हो तो फिर आप बेकार परेशान हैं'। इसके जवाब में आचार्यजी ने कहा 'प्रोफेसर साहब, उम्र भर की कमाई है'। ठीक ही है जिसने स्वतन्त्रता के लिये जीवन भर तपस्या की हो उसकी संकटवेदना बातों से कैसे टाली जा सकती थी।

चिन्ता

विभिन्न गुणों से सम्पन्न होते हुए भी आचार्यजी चिन्तारहित नहीं थे। बीमारी, पारिवारिक जिम्मेदारियाँ, देश की दशा और समाजवादी आन्दोलन की अवस्था उनकी चिन्ता के कारण थे। कांग्रेसी

सरकारों के भ्रष्टाचार और निकम्मेपन के कारण जनता का 'आशादीप' बुझता देखना उन्हें बड़ा कष्टदायी था। उन्हें इस बात का भी सन्ताप था कि जनता के आशादीप को जगाने वाली समाजवादी शक्तियाँ भी कमजोर हैं और वे अपनी बीमारी के कारण उन्हें सबल बनाने के लिये समुचित प्रयत्न नहीं कर पाते। उन्हें अपने कतिपय साथियों की अकर्मण्यता और उनके इधर उधर भटकने पर और बीमारी के कारण अपनी बेबसी पर बहुत दुख था। इन कष्टों से तप्त आचार्य अपने साथियों से आग्रह और बिनती करते कि इधर उधर भटकने के बजाय वे समाजवादी आन्दोलन की एकता को दृढ़ करें और समाजवादी शक्तियों को मजबूत बनाएँ। उनके उत्तर और व्यवहार से उन्हें बड़ी वेदना होती और वे बहुत निराश होते।

आचार्य नरेन्द्रदेव की इस भारी निराशा और वेदना का मूल कारण उनका महान् लक्ष्य था। देश आजाद हुआ और उसके लिये उन्होंने भी भरसक प्रयत्न किया और कष्ट सहे इससे उन्हें सन्तोष नहीं था। वे तो स्वतन्त्र भारत में समता और न्याय को प्रतिष्ठित करना चाहते थे, जनतान्त्रिक समाजवादी समाज स्थापित करना चाहते थे। उनका यह सपना उन्हें अनुप्राणित और उत्साहित भी करता, दुःखी और चिन्तित भी करता। जहाँ लक्ष्य की चर्चा उन्हें अच्छी लगती, उसके गुणगान में उन्हें बड़ा आनन्द आता, वहाँ उसकी याद उन्हें तड़पा भी देती। शीघ्रगामी संसार में लक्ष्य की और धीमी चाल उन्हें परेशान करती, फिर भी वे बीमारियों का लम्बा लबादा ओढ़े, जीर्णशीर्ण शरीर पर सब कष्टों और चिन्ताओं का बोझ लादे, सब साथियों को अनुप्राणित और प्रोत्साहित करते, लक्ष्य के गुण गाते, इधर उधर भटके बगैर सीधे लक्ष्य की ओर बढ़ते चलते। यही तपस्वी का तप था, यही उसकी इन्सानियत थी, यही उसकी मर्दानगी थी। लक्ष्य की लम्बी यात्रा वह पूरी नहीं कर पाये, शायद कोई भी युगपुरुष इसमें पूरी तौर पर सफल नहीं हुआ। वह लक्ष्य ही क्या जो आसानी से जिन्दगी में सिद्ध हो जाय। उन्हें इसकी याद और तड़प अपने साथ जरूर ले जानी पड़ी, पर इसमें उनके तप और साधना की कमी नहीं, बल्कि उनके लक्ष्य की महानता और उनके आदर्श का महत्त्व है।

४. जनतान्त्रिक शिक्षा पद्धति

शिक्षा का उद्देश्य

आचार्यजी का विचार था कि 'राष्ट्र के नवयुवकों को जीवन के लिये तैयार करना ही शिक्षा का उद्देश्य है। लेकिन चूँकि जीवन-पथ में नयी स्थितियाँ पैदा होती रहती हैं, इसलिये जीवन का स्थिर विचार शिक्षा का आधार नहीं हो सकता। बदलने वाले संसार की जरूरतों को पूरा करने के लिये शिक्षा को गतिशील होना पड़ता है। उसे मौजूदा समाज की जरूरतों और प्रेरणाओं को ध्यान में रखना होता है, उसे अपनी विशिष्ट समस्याओं को बाकी संसार की पृष्ठभूमि में देखना पड़ता है और उसे आधुनिक संसार की उन्नति के लिये आवश्यक जीवन मूल्यों को अपनाना और विद्यार्थियों में प्रसार करना होता है'। आचार्यजी का कहना था कि 'अगर शिक्षा को अपना काम ठीक तौर पर करना है तो उसको हमें नये समाज का निर्माण करने और दूसरे राष्ट्रों के साथ सौहार्दपूर्वक रहने के योग्य बनाना है। योग्य पुरुष पैदा करना ही काफी नहीं है, हमें तो ऐसे ऐसे उत्तम नागरिक भी पैदा करना है जिनकी नागरिक भावना और सामाजिक आदर्श ऊँचे हों, जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और समझदारी में विश्वास करते हों और जो जीवन के लोकतान्त्रिक आदर्श पर पूरी आस्था रखते हों।'

लोकतान्त्रिक चरित्र और जीवन का पूर्ण विकास ही उनकी शिक्षा पद्धति का मूल सामाजिक आदर्श था। लोकतन्त्र, स्वतन्त्रता, उत्तरदायित्व और सहकारिता की समुचित शिक्षा ही उनकी दृष्टि में भारतीय शिक्षा के प्रमुख सामाजिक आदर्श हो सकते हैं। उनकी धारणा थी कि नवयुवकों में लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों और परम्पराओं के प्रति दृढ़ आस्था जागृत करके ही, उनके जीवन को लोकतान्त्रिक आदर्शों से अनुप्राणित करके ही, उनमें लोकतान्त्रिक उत्तरदायित्व को वहन करने की क्षमता पैदा करके ही भारतीय लोकतन्त्र को सबल और स्वस्थ बनाया जा सकता है। स्वस्थ लोकतान्त्रिक भावना, चरित्र और व्यवहार ही

लोकतन्त्र के मूल आधार हैं। उनकी मजबूत बुनियादों पर ही भारतीय लोकतन्त्र का निर्माण सम्भव है। लोकतन्त्र की पुष्टि और प्रगति भारतीय शिक्षा का पुनीत कर्तव्य है।

नागरिकता की शिक्षा

उदार लोकतान्त्रिक शिक्षा के निमित्त नागरिकता की शिक्षा के समुचित प्रबन्ध को आचार्य नरेन्द्रदेव परम आवश्यक समझते थे। प्रत्येक बालक और बालिका को लोकतान्त्रिक नागरिकता की सैद्धान्तिक और व्यवहारिक शिक्षा देना वे नितान्त आवश्यक समझते थे। लोकतान्त्रिक नागरिकता की शिक्षा द्वारा वे विद्यार्थियों में उदार विश्व-भावना तथा व्यापक राष्ट्रीय भावना को जागृत तथा लोकतान्त्रिक मूल्यों और परम्पराओं के प्रति आस्था को दृढ़ करना चाहते थे। उनकी इच्छा थी कि विद्यार्थियों को ऐसी नागरिक शिक्षा दी जाय कि जिससे उनमें 'न्याय, सहयोग और राष्ट्रीय एकता के आदर्शों' के प्रति आदरभाव पैदा हो, उनमें 'देशसेवा और देशप्रेम के भाव' जागृत हों, उन्हें देश की परिस्थिति का ज्ञान हो और उनमें लोकतान्त्रिक नेतृत्व और सहयोग की क्षमता का विकास हो। इस उद्देश्य से वे पाठ्येतर सामाजिक कार्यों को भी प्रोत्साहित करना चाहते थे।

अनुशासन

आचार्य नरेन्द्रदेव अनुशासन को शिक्षा का प्राण समझते थे। पर उनका विचार था कि प्राचीन अनुशासन पद्धति आधुनिक लोक-तान्त्रिक युग के लिये उपयुक्त नहीं है। दमन पर आश्रित पद्धति के स्थान पर एक ऐसे अनुशासन की आवश्यकता है जो भय के बजाय आत्मसंयम को प्रोत्साहित करे। विद्यार्थियों को अनुशासन की समस्याओं को स्वयं सुलझाने का अवसर प्रदान करे। वे यह मानते थे कि अनुशासन की समुचित व्यवस्था संस्था के अध्यक्ष का सामाजिक उत्तरदायित्व है और यह उत्तरदायित्व विद्यार्थियों को नहीं सौंपा जा सकता। पर उनकी धारणा थी कि इस सम्बन्ध में विद्यार्थियों का सहयोग अवश्य ही लाभदायक सिद्ध हो सकता है। नरेन्द्रदेवजी चाहते थे कि शिक्षक समुदाय अपने निष्पक्ष और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार से विद्यार्थियों को अपनी ओर आकृष्ट कर उन्हें आत्मसंयम की शिक्षा दें, उनके

जीवन को सद्भावनाओं से अनुप्राणित करें और अध्यक्ष की समुचित देखरेख में स्कूल के प्रबन्ध में विद्यार्थियों के सहयोग को प्रोत्साहित करें। इस उद्देश्य से स्कूलों में विद्यार्थियों की स्वशासन संस्थाएँ कायम की जायँ जिनके जरिये विद्यार्थियों में स्वशासन की भावना को पुष्ट किया जाय, उनमें सामाजिक प्रबन्ध की क्षमता पैदा की जाय, स्कूल के अनुशासन और प्रबन्ध के स्तर को ऊँचा उठाया जाय।

विज्ञान और मानवता

लोकतन्त्र की सामाजिक शिक्षा के साथ-साथ विज्ञान की शिक्षा भी आचार्य नरेन्द्रदेव नितान्त आवश्यक समझते थे। उनका कहना था कि 'विज्ञान और मनोविज्ञान के नवीन सिद्धान्तों ने मानव, प्रकृति तथा जगत्सम्बन्धी हमारी धारणाओं को बदल डाला है। मनुष्य और प्रकृति के विषय में हमारे परम्परागत ज्ञान को अपना स्थान विज्ञान को देना होगा'। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि 'प्रारम्भ से ही हमारे पाठ्यक्रम में विज्ञान का अनिवार्य स्थान रहे। हमें ऐसी व्यवस्था करनी होगी कि 'शिष्यों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण की अभिवृद्धि हो', 'अधिक से अधिक वैज्ञानिक पैदा हों और प्रत्येक विश्वविद्यालय में सभी क्षेत्रों में वैज्ञानिक शोध का समुचित प्रबन्ध हो'। पर आचार्य जी विज्ञान की विनाशकारी शक्ति से भी पूरी तौर पर वाकिफ थे। इसलिये वे वैज्ञानिक दृष्टिकोण और मानवीय भावना के सामञ्जस्य पर जोर देते थे। आचार्य नरेन्द्रदेव का कहना था कि 'वैज्ञानिक दृष्टिकोण को मानव-मूल्यों में आस्था रखकर ही आगे बढ़ाना है, जिससे अश्रेयस्कर प्रयोजनों की सिद्धि के लिये विज्ञान का दुरुपयोग न हो'। वे अध्येताओं में 'वैज्ञानिक दृष्टिकोण' तथा 'सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों' के प्रति श्रद्धा दोनों ही पैदा करना चाहते थे। इसीलिये आचार्यजी के विचार में 'सार्वजनिक संस्कृति और सामान्य शिक्षा सब विशेष शिक्षा की पृष्ठभूमि होना ही चाहिये' ताकि अध्येता स्वतन्त्र लोकतान्त्रिक राज्य में नागरिक का कर्तव्य पालन कर सकें तथा विज्ञान और प्राविधिक ज्ञान का समाज के हित में सदुपयोग कर सकें।

धर्मनिरपेक्ष शिक्षा

पर जहाँ आचार्य नरेन्द्रदेव लोकतन्त्र की सामाजिक शिक्षा द्वारा

विद्यार्थियों में सामाजिक नैतिकता का प्रसार करना चाहते थे, उनमें 'सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति आस्था पैदा करना तथा उन्हें आचरण सम्पन्न तथा समाजसेवी बनाना चाहते थे, वहाँ वे विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा दिये जाने के विरोधी थे। उनकी धारणा थी कि 'साम्प्रदायिक सामञ्जस्य और सद्भाव को चिरन्तर आधार पर प्रतिष्ठित करना राष्ट्रीय एकता और प्रगति के लिये परम आवश्यक है और यह महान् कार्य धार्मिक शिक्षा के बजाय लोकतन्त्र और अखण्ड मानवता के आदर्शों की दीक्षा देकर ही हो सकता है। उनके विचार में धार्मिक शिक्षा तो साम्प्रदायिक सामञ्जस्य की अभिवृद्धि करने के बजाय संकुचित साम्प्रदायिक मनोवृत्ति को ही पुष्ट करेगी' उससे तो 'लोग और भी अधिक हठधर्मी और साम्प्रदायिक बनेंगे'।

सर्वांगीण विकास

आचार्य नरेन्द्रदेव चाहते थे कि नयी शिक्षा पद्धति ऐसी हो कि जिससे विचारों और भावों की एकता परिपुष्ट हो ताकि मन, बुद्धि और हृदय की एकता साधित हो'। उनकी राय में शिक्षा का सच्चा ध्येय ऐसे व्यक्तित्व के निर्माण एवं विकास में सहायता पहुँचाना है जिसमें ज्ञान, सहज प्रवृत्तियाँ और भाव एकभूत होकर एक सम्पूर्ण जीवन बने'। उनके विचार में 'पाठ्यक्रम के अतिरिक्त ऐसे-ऐसे काम निकाले जायँ जिससे बच्चों को स्कूल के अन्दर की परिस्थिति से ही उन सामाजिक आदर्शों और चारित्रिक दृष्टान्तों की शिक्षा मिले जो राष्ट्र को उत्तम बनाने में साधक होते हों।

वे ज्ञान और कर्म के समन्वय पर भी विश्वास करते थे। उनके विचार में निष्क्रिय ज्ञान निरर्थक है, सक्रियता और व्यवहारिकता में ही ज्ञान की सफलता है। आचार्यजी की धारणा थी कि 'इन्द्रियों के द्वारा आकस्मिक रूप से प्राप्त विषयों और विचारों को बिना विवेक के निष्क्रिय रूप से ग्रहण कर लेने की मनोवृत्ति बुद्धि का लक्षण नहीं है। ज्ञान का मूल वस्तुत्व का निरीक्षण है जिसमें प्रयोग, निर्माण तथा विवेकपूर्ण परीक्षण की सक्रिय विधियां सम्मिलित हैं। इसलिये शिक्षा-क्रम में शिष्यों को किसी विचार विशेष को ग्रहण करने के लिये विवश करना अवाँछनीय है। सैद्धान्तिक शिक्षा के साथ-साथ शिष्यों द्वारा उत्पादक कार्य और वस्तुओं का निर्माण भी आवश्यक है'।

व्यापक जनशिक्षा

आचार्य नरेन्द्रदेव का विचार था कि 'जब तक जनता में सामाजिक और राजनीतिक चेतना उत्पन्न नहीं होती तब तक लोकतान्त्रिक पद्धति की सफलता सम्भव नहीं है—इसलिये लोकतान्त्रिक व्यवस्था के लिये व्यापक शिक्षा सबसे आवश्यक है। जनता की सांस्कृतिक और शिक्षा-सम्बन्धी कमियों को सर्वप्रथम दूर करना पड़ेगा और सभी श्रेणियों में साक्षरता का व्यापक प्रसार करना होगा। सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़ी श्रेणियों और क्षेत्रों पर विशेष ध्यान देना होगा। उनको शीघ्रातिशीघ्र सुसंस्कृत समाज के समकक्ष लाने के लिये कोई भी कसर उठा नहीं रखना चाहिए। जब तक जनसंस्कृति का निर्माण नहीं हो जाता तब तक ऐसे स्वतन्त्र समाज की स्थापना भी नहीं हो सकती जिसमें प्रत्येक नागरिक सार्वजनिक कल्याण के लिये परस्पर सहयोग कर सके।

साक्षरता के अभियान को आवश्यक समझते हुए भी, वे जनता की साक्षरता से ही सन्तुष्ट नहीं थे। उनका कहना था कि साक्षरता तो व्यापक जनशिक्षा में केवल 'पहला कदम है'। इससे केवल बुद्धि का कपाट खुल जाता है। साक्षर हो जाने पर कोई व्यक्ति केवल साधारण क़िस्से-कहानियाँ पढ़ सकता है, किन्तु वह शिक्षित नहीं हो सकता और न अपने व्यवहारों को सामाजिक और विवेकयुक्त ही कर सकता है। 'वह राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं का अध्ययन नहीं कर सकता जिनसे आज चारों ओर उथल-पुथल मची हुई है। ऐसी साक्षरता से व्यवसायिक वर्ग अनुचित लाभ उठाते हैं और केवल मुनाफा कमाने के लिये ढेर के ढेर ऐसे सस्ते और भद्दे साहित्य को प्रकाशित करते हैं जिनसे केवल मनुष्य की दुष्प्रवृत्तियों को उत्तेजना मिलती है। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए आचार्य नरेन्द्रदेव साक्षरता के अभियान को सामाजिक शिक्षा का रूप देना चाहते थे। उनका विचार था कि 'जनता को राजनीतिक विषयों की शिक्षा तभी समुचित रूप से प्राप्त हो सकती है जब उसे विभिन्न प्रकार की विचारधाराओं को भलीभांति समझने और उनमें निर्णय करने का अवसर मिले। राज्य का कर्तव्य है कि वह जनता को ऐसी मौलिक शिक्षा

प्रदान करे जिससे उसके अन्दर विवेचनात्मक शक्ति का विकास हो और उसमें आत्म-निर्भरता की क्षमता आ सके। इसमें नागरिक शिक्षा का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है जिसमें न केवल राष्ट्रीय बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्यों का पालन करने की भी शिक्षा देनी चाहिए। उनके विचार में हमारी जन-शिक्षा योजना इस प्रकार की होनी चाहिए जिससे जीवन के प्रति स्वस्थ और असम्प्रदायिक दृष्टिकोण बन सके, उसमें लोकतान्त्रिक मूल्यों की प्रतिष्ठा हो और सामाजिक व्यवहार के नवीन संस्थाओं का निर्माण हो। व्यापक जन-शिक्षा की पूर्ति के लिये नरेन्द्रदेवजी चाहते थे कि 'श्रमिकों, किसानों तथा दूसरे उत्पादकों के लिये उनके घरों तथा कार्यस्थलों के करीब प्रौढ़ शैक्षिक संस्थाएँ खोली जाएँ और इन संस्थाओं में व्यवसायिक शिक्षा के साथ-साथ सांस्कृतिक और शिक्षा सम्बन्धी कार्यों की भी व्यवस्था हो'।

ज्ञान का व्यापक प्रसार

आचार्य नरेन्द्रदेव का विचार था कि ज्ञान का व्यापक प्रसार सामाजिक न्याय और समता की माँग है। लोकतान्त्रिक समाज में संस्कृति और शिक्षा कतिपय सुविधाजनक वर्गों की इजारादारी नहीं रह सकती। शिक्षा तो प्रत्येक नागरिक का अधिकार है। भारतीय लोक-तन्त्र में सभी वर्गों और जातियों के बच्चों के लिये उनकी क्षमता और प्रवृत्ति के अनुसार शिक्षा का प्रबन्ध आवश्यक है। चूंकि भारतीय समाज में कतिपय ऐसी जातियाँ हैं जो दीर्घकाल से सांस्कृतिक शिक्षा से वंचित रही हैं, इसलिये इन पिछड़ी जातियों में शिक्षा के प्रसार के लिये विशेष प्रयास की जरूरत है। अतः सरकार का कर्तव्य है कि इन पिछड़ी जातियों के बच्चों की शिक्षा पर विशेष ध्यान दे, उनके सांस्कृतिक उत्थान के लिये उन्हें विशेष सुविधाएँ प्रदान करे। इन जातियों के योग्य गरीब बच्चों को फीस के भार से ही मुक्त न किया जाय बल्कि अपने भरण पोषण के लिये भी उन्हें मासिक आर्थिक सहायता दी जाय। आचार्य नरेन्द्रदेव तो चाहते थे कि धीरे धीरे विश्वविद्यालय के स्तर तक की शिक्षा सभी विद्यार्थियों के लिये मुफ्त कर दी जाय। उनका विचार था कि 'चूँकि प्रतिभा समाज के सभी स्तरों में पायी जाती है और कोई ऐसी जाति और वर्ग नहीं कि जो

मानव समाज के सांस्कृतिक भण्डार से लाभ न उठा सके, इसलिये शिक्षा की व्यापकता राष्ट्र के सांस्कृतिक उत्कर्ष में बड़ी सहायक होगी बौद्धिक सम्पत्ति को बढ़ायेगी और उसे संसार के दूसरे सभ्य राष्ट्रों के समान योग्य बनने में मदद करेगी'।

स्त्री शिक्षा

आचार्य नरेन्द्रदेव स्त्री-पुरुषों की 'असमानता अमानवीय' और 'स्त्री-जाति का पिछड़ापन उन्नति के लिये बाधक समझते' थे। उनकी धारणा थी कि 'स्त्री-जाति की उत्साहपूर्ण क्रियाशीलता के बिना कोई भी महान् सामाजिक परिवर्तन सम्भव नहीं है'। इसलिये वे उन सब सांस्कृतिक विधियों और मानदण्डों के विरोधी थे जो स्त्रियों को समाज में परावलम्बी और गौण बनाते हैं, तथा उन्हें सांस्कृतिक उत्थान के लिये समुचित सुविधाएँ और अवसर नहीं देते। वे 'उन्हें सांस्कृतिक उत्थान' तथा 'शिक्षा और राष्ट्र के सांस्कृतिक कार्यों में भाग लेने की समान' सुविधाएँ दिये जाने का समर्थन करते थे।

सामान्य विद्यालय

आचार्य नरेन्द्रदेव सभी जातियों, वर्गों और सम्प्रदायों के बच्चों के लिये बिना किसी भेदभाव के सामान्य विद्यालयों द्वारा समान शिक्षा देने के पक्ष में थे। उनके विचार में जाति और सम्प्रदाय के नाम पर स्थापित शिक्षा संस्थाएँ जातिगत पक्षपात और साम्प्रदायिक वातावरण से दूषित होने के कारण लोकतान्त्रिक शिक्षा के केन्द्र नहीं बन सकते। इसी तरह विशिष्ट पिछड़ी जातियों के लिये पृथक् शिक्षा संस्थाओं का आयोजन भी उन जातियों के सांस्कृतिक पिछड़ेपन को या उनके पार्थक्य को दूर नहीं कर सकता। सामान्य शिक्षा संस्थाओं में समाज के दूसरे वर्गों के बच्चों के साथ साथ उनके सम्पर्क में समान शिक्षा प्राप्त करके ही पिछड़ी जातियों के बच्चों का पार्थक्य और सांस्कृतिक असमानता दूर हो सकती है और वे लोकतान्त्रिक समाज के समान नागरिक बन सकते हैं। आचार्य नरेन्द्रदेव इसी तरह सम्पन्न वर्गों द्वारा स्थापित विशिष्ट पब्लिक स्कूलों के पक्ष में भी नहीं थे। देहाती और शहरी क्षेत्रों के विद्यालयों के शिक्षा-स्तर के भारी भेद से भी नरेन्द्रदेव जी क्षुब्ध थे। वे ग्रामीण विद्यालयों के

स्तर को ऊँचा उठाकर, देहाती और शहरी स्कूलों के भेद को मिटाकर सब बच्चों के लिये समान शिक्षा का प्रबन्ध जरूरी समझते थे।

राज्य का कर्तव्य

नरेन्द्रदेवजी 'शिक्षा के प्रत्येक अंग को पुष्ट' करने के पक्ष में थे। उनका विचार था कि 'शिक्षा का निरन्तर क्रम चलता रहता है और सब अंग एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। अतः एक को दुर्बल कर हम दूसरे की पुष्टि नहीं कर सकते'। इसलिये प्रारम्भिक बुनियादी शिक्षा के साथ साथ माध्यमिक और उच्च शिक्षा एवं औद्योगिक और प्रौढ़ शिक्षा की समुचित व्यवस्था करना भी वे राज्य का कर्तव्य समझते थे।

अनिवार्य शिक्षा

आचार्यजी का विचार था कि प्रत्येक बच्चे के लिये कम से कम आठ वर्ष की अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा का प्रबन्ध आवश्यक है। 'बच्चों के चरित्र का निर्माण और गठन, उनकी बुद्धि का विकास, उनमें सभ्य जीवन की मौलिक प्रेरणाओं को जागृत करना, उन्हें जीवन के क्रियाकलापों में सक्रिय भाग लेने के योग्य बनाना' एवं 'एक सामान्य नागरिकता का विकास करना तथा एक सामान्य सांस्कृतिक दायाद की शिक्षा को सर्वसाधारण को सुलभ करा देना' ही अनिवार्य शिक्षा का मूल उद्देश्य है। लोकतान्त्रिक समाज की अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था में नागरिक शिक्षा का स्वभावतः विशिष्ट अनिवार्य स्थान है, क्योंकि नागरिकता के उत्तरदायित्व को समुचित रूप से वहन करने के लिये नागरिक जीवन के सिद्धान्तों और स्थिति का ज्ञान परम आवश्यक है। इसलिये आचाय नरेन्द्रदेव ने सन् १९३८ में संयुक्त प्रान्त की 'प्रारंभिक और माध्यमिक शिक्षा संघटन कमेटी' के अध्यक्ष की हैसियत से अनिवार्य शिक्षा के अन्तिम वर्षों के लिये नागरिक शिक्षा का एक पाठ्यक्रम तैयार किया था, जो कुछ लम्बा जरूर था, पर जिसके द्वारा बच्चों को देश की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थिति के साथ साथ समाज, नागरिक जीवन, राष्ट्रीयता, जनतन्त्र के मूल सिद्धान्तों का परिचय और नागरिकों के अधिकारों और कर्तव्यों का ज्ञान प्राप्त हो सकता था। वे इस शिक्षा

को बुनियादी शिक्षा के नाम से सम्बोधित करने को तैयार थे। वे इस बात से भी सहमत थे कि इस अनिवार्य शिक्षा के जमाने में प्रत्येक विद्यार्थी को अपनी रुचि के अनुकूल अनिवार्यतः किसी न किसी कला-कौशल की शिक्षा दी जाय। वे यह जानते थे कि कला-कौशल को माध्यम बनाकर दूसरे विषयों की शिक्षा देना कठिन है, पर उनके विचार में सिद्धान्ततः इस प्रकार की शिक्षा पद्धति प्रचलित पद्धति से अधिक सही है और लाभप्रद भी सिद्ध हो सकती है।

माध्यमिक शिक्षा का उद्देश्य

आचार्य नरेन्द्रदेव माध्यमिक शिक्षा में भी मौलिक परिवर्तन आवश्यक समझते थे। उनके विचार में माध्यमिक शिक्षा स्वतः पूर्ण होनी चाहिए, वह ऐसी होनी चाहिए कि जिसे प्राप्त कर विद्यार्थी जीवनोपार्जन के लिये किसी पेशे को अपना सकें और ऐसी आदतें ग्रहण कर सकें जिनसे उनके नैतिक जीवन का विकास हो और जो राष्ट्रीय एकता स्थापित करने में सहायक हों। उनकी राय थी कि माध्यमिक शिक्षा से सम्बन्धित विषयों का पाठ्यक्रम तैयार करते समय देश की स्थिति और आवश्यकताओं तथा ज्ञान की उपयोगिता पर विशेष ध्यान दिया जाय, अर्थात् अनावश्यक सैद्धान्तिक विस्तार के बजाय वास्तविकता से सम्बन्धित व्यवहारिक बातों का उसमें अधिक समावेश हो। वे यह भी चाहते थे कि ये पाठ्यक्रम ऐसे हों जिनको तैयार करने के निमित्त विद्यार्थियों को स्वतः अधिक काम करना पड़े ताकि उनकी अपनी क्षमता का विकास हो', वे आत्मनिर्भर हो सकें। आचाय नरेन्द्रदेव यह भी चाहते थे कि माध्यमिक शिक्षा के जमाने में इस प्रकार के पाठ्येतर प्रयासों का भी आयोजन हो जिनके द्वारा विद्यार्थी लोकतान्त्रिक नेतृत्व की शिक्षा प्राप्त कर सकें, उन्हें सामाजिक कार्यों में भाग लेने का तथा समूह के हित को प्राथमिकता देने का अभ्यास हो और उनमें सद्व्यवहार, आत्मसंयम और आत्मनिभरता आदि सद्गुणों का विकास हो।

विश्वविद्यालय

आचार्यजी का कहना था कि हम 'समाज कल्याण-राज्य स्थापित करने का दावा करते हैं, किन्तु इस ध्येय को प्राप्त करने के लिये

देश की सामाजिक सेवाओं का निरन्तर विस्तार आवश्यक है। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिये सरकार को काफी संख्या में अध्यापकों, डाक्टरों, इन्जीनियरों, यंत्रचालकों, तथा छोटे बड़े कार्यों के लिये अन्य सुशिक्षित व्यक्तियों की सेवाओं की आवश्यकता पड़ेगी। इसका यह अर्थ होता है कि विश्वविद्यालय की तथा वैज्ञानिक और यान्त्रिक शिक्षा की सुविधाओं का निरन्तर विस्तार हो और अनुसन्धान के कार्य में प्रगति हो। जनहित की हमारी सभी योजनाएँ तथा कार्यक्रम तब तक सफल नहीं हो सकते जब तक कि राष्ट्रीय जीवन से विभिन्न क्षेत्रों में सुशिक्षित और कुशल व्यक्तियों का एक बड़ा दल तैयार नहीं हो जाता। राष्ट्र की इस आवश्यकता की पूर्ति विश्वविद्यालय तथा टेकनोलाजिकल इन्स्टीट्यूट ही कर सकते हैं'। इस बात के साथ-साथ शिक्षा के सामाजिक प्रयोग की ओर ध्यान दिलाते हुये नरेन्द्रदेवजी मानवीय भावनाओं से अनुप्राणित, राष्ट्रीयता और लोकतन्त्र पर पूर्ण विश्वास रखने वाले उच्चस्तरीय नेतृत्व की देन भी विश्वविद्यालयों का कर्तव्य समझते थे। उन्हें आशा थी कि विश्वविद्यालय 'विचार और मानव-सम्बन्धों के क्षेत्र में नेतृत्व करने वाले व्यक्तियों को' जन्मे देंगे, 'रचनात्मक विचारों के ऐसे केन्द्र' बनेंगे 'जिनके द्वारा ही आज के कष्ट और संघर्ष के युग में नवीन सामञ्जस्य की स्थापना में हमें सहायता मिल सकती है', उनके विचार में 'विश्वविद्यालयों का यह अन्तिम कर्तव्य सर्वोपरि महत्त्व का है, क्योंकि आज के तीव्र परिवर्तन और विच्छिन्नता के युग में नयी सामाजिक चेतना और गतिशील चिन्तन ही सामाजिक रोग का विश्लेषण करके उसका उचित निदान ढूँढ़ सकता है'। इस सम्बन्ध में उनका कहना था कि 'विश्वविद्यालयों में सामान्य शिक्षा के पाठ्यक्रम की व्यवस्था होनी चाहिए जैसा कि संयुक्त राज्य अमरीका के कुछ कालेजों में हुआ है। विश्वविद्यालय के प्रत्येक विद्यार्थी को चाहे वह किसी विभाग का हो, अपने देश के विधान की रूप-रेखा, भूतकालीन इतिहास तथा आधुनिक विश्व के सम्बन्ध में कुछ जानकारी रखना चाहिए। उसे आधुनिक विचारधारा का भी कुछ ज्ञान होना चाहिए और अपने लिये एक सामाजिक दर्शन बनाने की कोशिश करना चाहिए। उसे वैज्ञानिक पद्धति का अभ्यास करना चाहिए और उसकी विचार प्रक्रिया तर्कपूर्ण होना चाहिए'।

इस तरह आचार्य नरेन्द्रदेवजी विश्वविद्यालयों में इस प्रकार की

उच्च शिक्षा की व्यवस्था करना चाहते थे कि जिससे समाज को विभिन्न क्षेत्रों के लिये ऐसे विशेषज्ञ उपलब्ध हो सकें जो समाज का सर्वांगीण निर्माण कर सकें और साथ ही लोकतान्त्रिक उत्तरदायित्व को सुचारु रूप से पूरा करते हुए भारत में लोकतान्त्रिक व्यवस्था को प्रतिष्ठित और परिपुष्ट कर सकें।

शिक्षा का माध्यम

आचार्य नरेन्द्रदेव प्रादेशिक मातृभाषा को प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा का माध्यम बनाना चाहते थे। पर वे राष्ट्रभाषा हिन्दी को विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम बनाये जाने के पक्ष में थे। वे यह मानते थे कि 'विदेशी भाषा की आवश्यकता बहुत दिनों तक बनी रहेगी' पर उनके विचार में 'वह शिक्षा का माध्यम नहीं होगी, और शिक्षा के कार्यक्रम में उसको गौण स्थान प्राप्त होगा'। उनकी धारणा थी कि 'जब तक हम विभिन्न प्रदेशों के सांस्कृतिक सम्बन्ध को दृढ़ नहीं बनाते और बड़ी संख्या में एसे लोगों को तैयार नहीं करते जो एक सामान्य भाषा में अपने सर्वोत्कृष्ट विचारों को व्यक्त कर सकें तब तक हिन्दुस्तान में राष्ट्रीय एकता स्थापित नहीं होती'। अगर हम प्रत्येक विश्वविद्यालय में आधुनिक भारतीय भाषाओं की शिक्षा की व्यवस्था कर दें और विश्वविद्यालयों में राष्ट्रभाषा को शिक्षा का माध्यम बना दें तो यह उद्देश्य सफल हो सकता है'। राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करने के लिये वे यह भी चाहते थे कि 'दक्षिण भारत की एक भाषा का अध्ययन उत्तर भारत के विश्वविद्यालयों में अनिवार्य कर दिया जाय'। वे कम-से-कम विश्वविद्यालय के स्तर पर एक विदेशी भाषा का ज्ञान भी आवश्यक समझते थे। इस सम्बन्ध में उनका कहना था कि 'अंग्रेजी द्वारा हमको यूरोपीय ज्ञान अब तक मिलता रहा है, पर स्वतन्त्र होने के पश्चात् हमारा प्रत्यक्ष सम्बन्ध सब राष्ट्रों से हो गया है। ऐसी अवस्था में संसार की विविध भाषाओं की व्यवस्था हमको अपने देश में करनी चाहिए'।

संस्कृत वाङ्मय का अध्ययन

आचार्य नरेन्द्रदेव संस्कृत वाङ्मय की व्यापकता, गरिमा और गाम्भीर्य के प्रशंसक थे और भारतीय नवयुवकों के लिये उसका समुचित

अध्ययन जरूरी समझते थे। उनका विचार था कि 'जो व्यक्ति अपनी ज्ञान परम्परा तथा अतीत के इतिहास का ज्ञान नहीं रखता वह सभ्य और शिष्ट नहीं कहला सकता, चूँकि वर्तमान का मूल अतीत में है और बिना उसको जाने वर्तमान के सामाजिक जीवन में बुद्धिपूर्वक सहयोग करना कठिन है'।

पर वे संस्कृत वाङ्मय के साथ साथ आधुनिक भाषाओं और विषयों का अध्ययन तथा अन्य देशों के संचित ज्ञानभण्डार से लाभ उठाना भी आवश्यक समझते थे। इसलिये जहाँ उनका यह सुझाव था कि आधुनिक शिक्षा पद्धति में संस्कृत के अध्ययन को प्रान्तीय भाषाओं के अध्ययन का अंग बनाया जाय, वहाँ दूसरी ओर उनका यह भी सुझाव था कि प्रान्तीय भाषाओं द्वारा संस्कृत की शिक्षा दी जाय, प्रान्तीय भाषाओं में संस्कृत वाङ्मय का अनुवाद हो और संस्कृत विद्यालयों के विद्यार्थी अपनी मातृभाषा के साहित्य का भी समुचित अध्ययन करें तथा संस्कृत विद्यालयों के पाठ्य-विधि में आधुनिक विषयों का अध्ययन भी शामिल हो। उनका विचार था कि 'माधुर्य और प्रसाद गुण मातृभाषा के साहित्य में ही सुगमता के साथ आ सकता है' और वे चाहते थे कि संस्कृत के विद्यार्थी मातृभाषा का समुचित ज्ञान प्राप्त कर मातृभाषा में साहित्य सृजन करने में भी गौरव का अनुभव करें।

उनकी धारणा थी कि जितना आधुनिक ज्ञान एक साधारण विद्यार्थी के लिये नितान्त आवश्यक है उतना तो संस्कृत पाठशालाओं के छात्रों को भी अर्जित करना ही चाहिए। उनके विचार में जब तक हम संस्कृत-शिक्षा-पद्धति में ऐसा सुधार नहीं करते कि शिक्षित राज्य के उपयोगी नागरिक बन सकें और ठीक प्रकार जीविका प्राप्त कर सकें तब तक संस्कृत-शिक्षा का उद्धार असम्भव ही है।

संस्कृत वाङ्मय की शिक्षा को अधिक गम्भीर और लाभप्रद बनाने के लिये वे यह भी चाहते थे कि विद्यार्थियों का अध्ययन तुलनात्मक हो, शास्त्रों के वैज्ञानिक अध्ययन और अनुसन्धान को प्रोत्साहित किया जाय तथा संस्कृत-शिक्षा के स्तर को उठाया जाय और उसका समीकरण किया जाय। उनका विचार था कि अनुसन्धान के कार्य में पुरातन और

नवीन शैली दोनों के विद्वानों का सहयोग प्राप्त किया जाय और इस सम्बन्ध में जिन भाषाओं और नवीन शास्त्रों की शिक्षा की आवश्यकता हो उसका भी संस्कृत विश्वविद्यालयों में समुचित प्रबन्ध हो। भारतीय संस्कृति और वाङ्मय के वैज्ञानिक अनुसन्धान के लिये वे 'वैदिक तथा वैदिकेतर साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन तथा लोक-साहित्य, लोकव्यवहार और लोकश्रुति तथा ऐतिहासिक और प्रागैतिहासिक पुरातत्वविज्ञान, भाषा विज्ञान, मानवजाति विज्ञान, पुराणविज्ञान और अनेक नवीन विज्ञानों के अनुशीलन को आवश्यक समझते थे।

सहयोग

आचार्य नरेन्द्रदेव के विचार में 'शिक्षा के क्षेत्र में विद्यालय के अध्यापक, विद्यार्थी और प्रबन्धक एक दूसरे के सहयोगी हैं'। इस भाव को जगा कर ही शिक्षा के क्षेत्र में समुचित सफलता प्राप्त की जा सकती है, विद्यालयों के प्रबन्ध तथा अनुशासन एवं शिक्षा के स्तर को ऊंचा उठाया जा सकता है।

अध्यापक

प्रबन्धकों को यह बात अच्छी तौर पर 'समझ' लेना है कि अध्यापक ही विद्यालय के प्राण हैं, उनकी योग्यता और क्षमता ही विद्यालय की प्रतिष्ठा और उपयोगिता के मूल आधार हैं, उनके उत्साहपूर्ण सहयोग के बिना शिक्षा के ध्येय की सिद्धि असम्भव ही है। शिक्षकों के गौरव की रक्षा, उनके व्यक्तित्व और विद्वत्ता का आदर, उनके साथ निष्पक्ष व्यवहार तथा उनकी आवश्यकताओं को पूरा करके ही शिक्षा कार्य में उनका समुचित सहयोग प्राप्त किया जा सकता है।

आचार्य नरेन्द्रदेव को विद्यालयों में योग्य शिक्षकों का अभाव खटकता था। वे शिक्षा के स्तर को ऊंचा उठाने के लिये सुयोग्य शिक्षितों को शिक्षा कार्य में आकृष्ट करना आवश्यक समझते थे। उसके बिना तो, आचार्यजी के विचार में, 'शिक्षा के विस्तार की समुचित व्यवस्था नहीं की जा सकती'। उनकी धारणा थी 'अध्यापन के कार्य को आकर्षक बनाने का एक ही तरीका है और वह है उसके वेतन में

समुचित वृद्धि'। उनका कहना था कि 'यदि समान योग्यता के लोगों का समान वेतन हो तो असन्तोष नहीं होता। असमानता के कारण असन्तोष बढ़ता है। यह मनुष्य का स्वभाव है'। अतः शिक्षा विभाग के वेतन को दूसरे विभागों के वेतन के समान ऊंचा उठाना नितान्त आवश्यक है'। 'अध्यापक समाज की धुरी हैं, क्योंकि शिक्षा राष्ट्र के पुनरुज्जीवन की सभी योजनाओं का महत्त्वपूर्ण अंग है। अतएव सरकार और स्थानीय अधिकारी दोनों के लिये उचित है कि ऐसी व्यवस्था करें कि नयी योजना में अध्यापक वृन्द अपने उचित स्थान और स्तर पर आसीन हों...जिसमें अध्यापक अपनी अध्यापकवृत्ति त्याग कर अच्छे वेतन और जीवन के उत्तम उपकरणों की प्राप्ति के लिये अन्यत्र न चले जाएं'।

अध्यापक वृन्द की 'बौद्धिक और अध्ययनगत स्वतन्त्रता अक्षुण्ण' बनाये रखना भी आचार्य नरेन्द्रदेव प्रबन्धकों का पुनीत कर्तव्य समझते थे। उनके विचार में 'एक अध्यापक तभी उपयोगी हो सकता है जब कि उसके अन्तर्गत बौद्धिक ईमानदारी हो और यह तभी सम्भव है जबकि उसे वैचारिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो। यह स्वतन्त्रता ही अध्यापक की अमूल्य निधि है और किसी भी दशा में उसका परित्याग श्रेयस्कर नहीं हो सकता। उसे सभी विषयों पर सैद्धान्तिक तरीके से अपने विचार व्यक्त करने की अबाध स्वतन्त्रता होनी चाहिए। एक सच्चा अध्यापक अपने युग के विवादास्पद प्रश्नों के प्रति उदासीन नहीं रह सकता। उदासीनता का भाव या उससे भी बुरी बात अधिकारियों के भय से अपने विचारों को छुपाने की इच्छा उसकी मर्यादा के विरुद्ध है। किन्तु यह स्मरण रहे कि चाहे उसका विचार कुछ भी हो, उसे एक प्रचारक या मंच वक्ता बनने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए'।

आचार्य नरेन्द्रदेव चाहते थे कि प्रबन्धक और अध्यापक दोनों विद्यार्थियों के प्रति अपने कर्तव्य का अनुभव करें और समुचित सहयोग के साथ विद्यार्थियों की शिक्षा-दीक्षा के महत्त्वपूर्ण कार्य का सञ्चालन करें। 'विद्यार्थियों के मानस का निर्माण करना, उनके चरित्र का विकास करना तथा उनमें जनतान्त्रिक भाव भरना अध्यापक का कर्तव्य है।......जो अध्यापक केवल ज्ञान-वाहन करता है, किन्तु

विद्यार्थियों के विचार और चरित्र का निर्माण नहीं करता, वह एक योग्य अध्यापक नहीं है'। चरित्र निर्माण का काम एक अध्यापक तभी कर सकता है जब वह स्वयं 'विद्याचरण सम्पन्न' हो, उसके आचरण और व्यवहार में भेद न हो, वे विद्यार्थियों के व्यक्तित्व का आदर करे, विद्यार्थियों के सामने चरित्र का ऐसा आदर्श उपस्थित करे कि जिसे वह 'स्वतः अनुसरण करने की कोशिश करे'। नरेन्द्रदेवजी चाहते थे कि अध्यापक वृन्द 'अपने शिष्यों में लोकतान्त्रिक भावना, स्वतन्त्रता के प्रति अनुराग, न्याय की प्यास और प्रगति का संकल्प पैदा करें, और इस कर्तव्य की पूर्ति के लिये 'स्वयं इन गुणों से सम्पन्न' हों। आचार्यजी की धारणा थी कि 'शिक्षक को सुशिक्षित तथा प्रबल नैतिक एवं समाज सेवा की भावना से युक्त होना चाहिए। तभी वह स्कूल का मानवीकरण कर सकता है, और अनुशासन की रक्षा एवं लोकतान्त्रिक नागरिक कर्तव्यों की पूर्ति के लिये नवयुवकों को तैयार कर सकता है'। आचार्यजी समझते थे कि समाज में समुचित आदर प्राप्त करने के लिये अध्यापकों को अपनी सेवा द्वारा समाज में अपनी 'उपयोगिता सिद्ध' करनी होगी। उसे 'राष्ट्रीयजीवन के सभी क्षेत्रों में व्याप्त होना' होगा। जनशिक्षा के कार्य को विशेष तौर पर अपने हाथ में लेना होगा। समाजसेवा द्वारा वे विद्यार्थियों में भी मान प्राप्त कर सकते हैं।

विद्यार्थी

आचार्य नरेन्द्रदेव के विचार में विद्यार्थियों को भी अच्छी तौर पर समझ लेना है कि विद्यालय के सुप्रबन्ध और प्रतिष्ठा में ही उनका भला है, शिक्षकों के मान की रक्षा करके ही वे अपने अध्ययन में उनका समुचित सहयोग प्राप्त कर सकते हैं। शिक्षक और शिष्य की प्रतिष्ठा अवश्य भी अन्योन्याश्रित है। विद्यार्थियों को यह भी समझना है कि 'इस युग में सफलता की कुंजी आत्म-संयम, साहस और सद्बुद्धि हैं', 'आत्मसंयम के बिना कोई व्यक्ति किसी जिम्मेदारी के काम को निभा नहीं सकता'। उन्हें यह भी समझना है कि 'स्वाधीनता का अर्थ विश्रृंखलता नहीं है, उसका सही अर्थ तो आत्मनियन्त्रण ही है'। उन्हें यह भी अच्छी तौर पर समझना है कि 'उनको अपने राष्ट्र को बलस बनाना तथा एक नूतन समाज का निर्माण करना है' और इस

महान् कार्य के लिये जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में ऐसे विद्याचरणसम्पन्न नवयुवकों की आवश्यकता है जो सेवाभाव से प्रेरित होकर राष्ट्र के उत्थान कार्य के लिये अग्रसर हों। उन्हें याद रखना है कि उन्हें अपनी जीविका का उपार्जन करने के साथ-साथ 'अपने समाज का हितकारक भी बनना है और स्वतन्त्र तथा लोकतान्त्रिक राज्य के नागरिक का कर्तव्य भी पालन करना है। इसमें सन्देह नहीं कि आज की किसी भी समस्या का समाधान युवकों के सहयोग के बिना समुचित रूप से नहीं हो सकता और यदि हमारे नवयुवकों का, जिनके हाथ में नेतृत्व आने वाला है, जीवन के मूल्यों के प्रति आदर भाव नहीं होता तो देश का भविष्य आशाप्रद नहीं हो सकता। अतः देश की भावी उन्नति के लिये आवश्यक है कि विद्यार्थी 'जनतान्त्रिक आदर्शों के प्रति दृढ़ आस्था' रखें, उनसे उनका 'सारा जीवनक्रम और व्यवहार अनुप्राणित' हो, वे अपने में 'रचनात्मक क्षमता' पैदा करें और उनके आन्दोलनों में 'ऐसे सामाजिक और सांस्कृतिक आन्दोलनों का समावेश हो कि जिससे सामाजिक न्याय और बौद्धिक उन्नति का राज्य प्रतिष्ठित हो सके'।

५. संस्कृति

धर्म का विश्लेषण

संसार के विभिन्न धर्मों का वैज्ञानिक अध्ययन, उनके संकीर्ण अनुष्ठानों और व्यापक उदारतत्त्वों के मौलिक भेद का समुचित ज्ञान तथा इतिहास की पृष्ठभूमि में उनकी क्रिया प्रतिक्रिया की जानकारी नरेन्द्रदेवजी मानव की गतिविधि के समुचित ज्ञान के लिये आवश्यक समझते थे। बहुत से दूसरे कामों में व्यस्त रहने के कारण वे स्वयं इस काम को नहीं कर सके। पर इस सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ लिखा है उससे उनके ऐतिहासिक और मानवतावादी दृष्टिकोण का तथा हिन्दू धर्म, बौद्ध दर्शन एवं मध्यकालीन सूफी-सन्तों की विचार धारा के सम्यक् ज्ञान का पता ज़रूर मिलता है।

धर्म की देन

संस्कृत वाङ्मय के प्रसिद्ध विद्वान् तथा अनीश्वरवाद के पोषक पण्डित लक्ष्मण शास्त्री जोशी की प्रसिद्ध पुस्तक 'हिन्दू धर्म की समीक्षा' की भूमिका में नरेन्द्रदेवजी ने स्वीकार किया है कि 'प्राचीन काल में धर्म जीवन के सकल अंशों को व्याप्त करता था' और 'वह उन्नति का अच्छा उपकरण था'। आकाशवाणी द्वारा प्रसारित एक वार्ता में उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि संकुचित साम्प्रदायिक भावनाओं और कृतियों से प्रभावित होते हुए भी विशाल हिन्दू धर्म कुछ विशिष्ट उदार धार्मिक भावनाओं और मान्यताओं से अनुप्राणित है जिसके कारण वह 'किसी एक व्यक्ति को पैगम्बर या गुरु नहीं समझता' और स्वीकार करता है कि 'लोगों की रुचि भिन्न भिन्न होती है और विभिन्न मार्गों पर चल कर वह एक लक्ष्य पर पहुँच सकता है'। आकाशवाणी द्वारा प्रसारित एक दूसरी वार्ता में नरेन्द्रदेवजी ने यह भी स्वीकार किया है कि हिन्दू धर्म की उदार भावना के कारण 'इतिहास के लम्बे काल में भारतीय समाज ने अनेकता में एकता का दर्शन किया है' और यह 'एकता रक्त, रंग, भाषा, वेशभूषा, आचार-विचार और सम्प्रदाय आदि

की अगणित भिन्नताओं के ऊपर है'। इसी वार्ता में उन्होंने यह भी कहा है कि धार्मिक असहिष्णुता और कट्टरता के विरोधी मुसलमान सूफी और फकीरों तथा हिन्दू साधु-सन्तों ने 'मध्ययुग में साम्प्रदायिक ऐक्य के लिये बड़ा काम' किया है। उन्होंने बताया कि इन्होंने 'नैतिक शुद्धता और सच्ची भक्ति' पर जोर दिया, पर 'एतत्सम्बन्धी प्रदर्शनों तथा विभिन्न आयोजनाओं को ढोंग की संज्ञा प्रदान की, दोनों धर्मों में निहित अन्ध विश्वासों का तथा जातपांत का खण्डन कर छोटी-बड़ी सभी जातियों के लिये मुक्ति का मार्ग खोल कर जनसाधारण के जीवन को ऊँचा उठाया' तथा 'धर्म के आधार पर दोनों सम्प्रदायों में एकता स्थापित करने के लिये समुचित मंच प्रदान किया'।

धर्म की कट्टरता

पर धर्म की इस ऐतिहासिक देन को स्वीकार करते हुए नरेन्द्रदेवजी उस के 'प्रतिगामी' प्रभाव की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। उनका कहना था कि जब धर्म में 'जड़ता' आ जाती है और उसका विकास रुक जाता है, तब धर्म पर आश्रित समाज भी 'जड़ और निश्चेष्ट' हो जाता है। उनका यह भी कहना था कि 'धर्म आज रूढ़ियों और स्थिर स्वार्थों का समर्थक है', वह वर्ग वैषम्य तथा शोषण से ग्रसित समाज को अपने प्रचलित रूप में अखण्ड रखना चाहता है', वह उस आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था का 'पोषक और समर्थक' है जिसमें 'मनुष्य अपनी पूरी ऊंचाई तक नहीं पहुँच सकता, अपना पूण विकास नहीं कर सकता।

मानवतावादी नरेन्द्रदेव धर्म को मानव की परिपूर्णता में 'बाधक' समझते थे। उनके विचार में धर्म 'जीवन की ठोस हकीकत से उसे अलग कर ख्याल और वहम की काल्पनिक दुनिया में उसको नचाता है और उसकी आत्मचेतना को पूर्ण रूप से विकसित नहीं होने देता'।

यद्यपि नरेन्द्रदेवजी 'निष्काम कर्म' तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावनाओं को एवं बौद्ध काल की 'अप्रतिष्ठित निर्वाण की कल्पना' को जो साधक को अपनी वैयक्तिक मोक्ष की उपेक्षा करते हुए दुःख से आहत जीवों की सेवा करने के लिये प्रेरित करती है, जनकल्याणकारी समझते थे; पर वे धर्म के उन अध्यात्मवादी विचारों और कल्पनाओं को मानव

जीवन के विकास में बाधक समझते थे जो बताते हैं कि 'जीवन एक स्वप्न है, वह मिथ्या है' और जो 'जीवनसागर के निवारण का मार्ग मुक्ति बताते हैं'। उनकी धारणा थी कि इस प्रकार के 'निराशावादी विचार दर्शन तथा अनुशासन हमारा भला नहीं कर सकते'।

वर्तमान युग के धार्मिक आन्दोलन की चर्चा करते हुए नरेन्द्रदेवजी ने आकाशवाणी की वार्ता में कहा कि 'पश्चिमी संस्कृति के सम्पर्क में आ जाने के फलस्वरूप हिन्दू तथा इस्लाम धर्मों की शुद्धि के हेतु देश में अनेक सुधारवादी आन्दोलनों का जन्म हुआ जो धर्मों के बिगड़ते हुए रूप को पुनः मौलिक स्तर प्रदान करना चाहते थे, पर इसका परिणाम यह हुआ कि भारत के सभी वर्ग जो एक सूत्र में आबद्ध थे, छिन्न-भिन्न होने लगे···शनैः शनैः एक दूसरे का अन्तर बढ़ता गया और कुछ दिनों के पश्चात् एक दूसरे के उत्सवों में भाग लेना लोगों ने बन्द कर दिया'। इस तरह से धर्मों की शुद्धि की प्रक्रिया ने देश में साम्प्रदायिक पार्थक्य को अधिक गम्भीर बना दिया जिसका दुरुपयोग 'क्षुद्रमनोवृत्ति के राजनीतिज्ञों ने' अपनी उद्देश्य पूर्ति के लिये इस तरह किया कि उससे साम्प्रदायिक वैमनस्य बढ़ने लगा। इस वैमनस्य को शान्त करने के लिये कतिपय विचारकों और नेताओं ने धर्म के सर्वव्यापी महत्त्व को तसलीम करते हुए सर्वधर्म-समन्वय का कार्य प्रारम्भ किया। पर इस प्रक्रिया से भी देश की साम्प्रदायिक समस्या हल नहीं हो सकी। वैमनस्य और अशान्ति बढ़ती ही गयी। आचार्य नरेन्द्रदेव प्रभृति विचारक स्वभावतः इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इस युग में सर्व-धर्म-समन्वय द्वारा साम्प्रदायिक समस्या का हल होना असम्भव है, यद्यपि 'शान्ति की रक्षा' के निमित्त वे धर्म पर निष्ठा रखने वाले व्यक्तियों का धर्म के उन उदार भाव और तत्त्वों की ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक समझते रहे जो 'सब प्राणियों में अपने को और अपने में सब प्राणियों को देखने के लिये विवश करता है', जो सिखाता है कि 'स्वर्ग और मोक्ष लाभ के अनेक मार्ग हैं और प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने धर्म में रह कर मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है', और जिसकी मान्यता है कि 'अनुष्ठान, संस्कार सम्प्रदाय विशेष के चिन्ह विशेष हैं' एवं 'चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये वे नितान्त आवश्यक नहीं हैं'।

नये युग की माँग

आचार्य नरेन्द्रदेव का कहना था कि 'हमारा यह नवीन युग हमसे वह नया कार्य कराना चाहता है जो वर्तमान धर्म सम्प्रदायों द्वारा पूरा नहीं हो सकता। किसी धर्म-समन्वय-युक्त धर्म से काम नहीं चलेगा, चाहे वह कितना ही प्रवुद्ध और वैज्ञानिक क्यों न हो'। उन्हें तो 'धर्म और विज्ञान का कोई युक्तिसंगत मेल बैठाना भी असम्भव प्रतीत होता' था। वे धर्मनिरपेक्षता के आधार पर जीवनोत्कर्ष और सामाजिक विकास के लिये सतत् प्रयत्न आवश्यक समझते थे। उनके विचार में 'समाज के प्रश्न धर्म के दामन में छिपाने से हल नहीं हो सकते', राष्ट्रीय भावना तथा जनतन्त्र को सुदृढ़ बनाने के लिये 'राजनीतिं में धर्म का हस्तक्षेप रोकना ही होगा' तथा जीवनोत्कर्ष और सामाजिक विकास के लिये धर्मनिरपेक्ष संस्कृति और नैतिकता को विकसित करना ही होगा। आचार्य नरेन्द्रदेव स्वीकार करते थे कि 'मनुष्य केवल तक से नहीं जी सकता, उसे विश्वास की आवश्यकता होती है'। पर उनके विचार में 'यह विश्वास धर्म-निरपेक्ष होना चाहिए। ऐसा विश्वास ही साम्प्रदायिकता को दूर कर सबके लिये समान जीवन ध्येय और सहयोग युक्त प्रयास निर्माण कर सकेगा, भविष्य के लिये आध्यात्मिक आश्वासन प्रदान कर सकेगा'। उनका कहना था कि 'लोकतन्त्र और मानव तथा सामाजिक मान से मूल्यांकन इन दो बातों पर विश्वास ही हमारे लिये काफी है। यदि यह विश्वास है तो विज्ञान के बल से हम मानव व्यक्तित्व के उद्देश्य को सिद्ध कर सकते हैं'। उनकी धारणा थी कि 'जीवन के नये सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्य प्रेरणा देने के लिये पर्याप्त हैं। इन मूल्यों पर जिनका अटल विश्वास है वह उन पर उसी प्रकार दृढ़ रह सकते हैं जिस प्रकार धार्मिक व्यक्ति दुःख यातना भोगते हुए भी अपने धार्मिक विश्वास पर अटल रहता है'। उनके विचार में 'सामाजिक लोकतन्त्र हमें वह विश्वास प्रदान करता है जिससे हम जी सकते हैं और अन्त में हम उन कृत्रिम दीवारों को ढाह सकते हैं जो हम लोगों को एक दूसरे से अलग करने के लिये धर्म और जात-पांत ने खड़ी की हैं'।

संस्कृति का स्वरूप

नरेन्द्रदेवजी के विचार में 'संस्कृति चित्त-भूमि की खेती है।

चित्त को सुभावित करना ही उसको सुसंकृत करना है'। जीवन और कर्म में 'चित्त की प्रधानता' है। 'चित्त ही जीवन को सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों से सुभावित और सुवासित करता है', अतः सुभावित चित्त ही मनुष्य की क्रियाकलापों को सुसंस्कृत कर सकता है। उनके विचार में 'व्यक्तियों के चित्त के साथ साथ एक लोकचित्त भी बनता रहता है—समाज में कई बातों में समानता उत्पन्न होती हैं···जिन बातों में समानता उत्पन्न होती है···उन्हीं के आधार पर लोकचित्त भी बनता है'। सामाजिक सम्पर्क का भौगोलिक क्षेत्र सीमित होने के कारण 'प्राचीन काल में एक सुभावित चित्त के लिये इतना ही सम्भव था कि वह व्यक्तिगत रूप से विश्व के अखिल पदार्थों के साथ तादात्म्य स्थापित करे और जीवन मात्र के लिये मैत्री और अद्वैत की भावना से वासित हो', पर सम्पर्क के साधनों के विस्तार के कारण लोकचित्त के कार्यक्षेत्र का विस्तार हो रहा है, लोकचित्त का राष्ट्रचित्त में विकास हो रहा है, और वह विश्वचित्त, विश्व संस्कृति के रूप में भी प्रकट होने लगा है। नरेन्द्रदेवजी का कहना था कि 'राष्ट्रीयता की प्रबल भावना से प्रेरित हो एक देश की भौगोलिक सीमा के भीतर रहने वाले सभी लोग कुछ बातों में अपनी समानता और एकता का अनुभव करते हैं। एकता की भावना देश की सीमा का भी अतिक्रमण करती है, और एक विश्व की भावना की ओर अग्रसर होती है ... आज विविध राष्ट्रों का अपना अपना लोकचित्त भी है। किन्तु क्योंकि आज एक ही प्रकार के आचार-विचार सारे विश्व में प्रचलित हो रहे हैं इसलिये कुछ बातों में विविध राष्ट्रों के लोकचित्त भी समान होते जाते हैं'।

इस तरह नरेन्द्रदेवजी के विचार में संस्कृति मानवीय, सामाजिक तथा ऐतिहासिक है। वह मानवचित्त की खेती है। वह इतिहास की पृष्ठभूमि में सामाजिक सम्पर्क के सन्दर्भ में समुदाय में मानव द्वारा विकसित और प्रफुल्लित होती है, 'लोकचित्त तथा विश्वभावना का एवं सामान्य सामाजिक मान्यताओं और आचार-विचार का रूप धारण करती है'।

सांस्कृतिक विकास की प्रक्रिया

नरेन्द्रदेवजी के विचार में 'जीवन और संस्कृति दोनों परिवर्तनशील हैं। स्थिति के बदलने पर दोनों में परिवर्तन होता है'। इतिहास

के किसी युग में संस्कृति ह्रासोन्मुख होती है तो किसी युग में विकासोन्मुख। देशकाल के भेद से विचार बदलते रहते हैं, विश्वासों में परिवर्तन होता रहता है। नरेन्द्रदेवजी के विचार में इस परिवर्तन का सम्बन्ध सामाजिक विकास से है, 'आर्थिक संगठन के बदलने से सामाजिक सम्बन्ध बदलते हैं, नवीन उद्देश्यों और आकाँक्षाओं का जन्म होता है, उनकी पूर्ति के लिये नये मूल्यों को स्वीकार करना पड़ता है'। जहाँ 'बहुत से सामाजिक मूल्य दीर्घकालीन हैं, इतिहास ने बार-बार उनकी उपयोगिता सिद्ध कर दी है', वहाँ 'कुछ दूसरे मूल्य हैं जो जनता की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं से समय-समय पर सृजित होते हैं। राष्ट्र की प्रगति के लिये उन्हें भी अपनाना ही होता है'। सामाजिक संसार में 'परिस्थिति के बदलने पर ताजे पानी की तरह नई संस्कृति की आवश्यकता होती है। अन्यथा जीवन प्रवाह असम्भव हो जाता है'।

नवसंस्कृति का निर्माण

नरेन्द्रदेवजी के विचार में 'आदिकाल से मानवजाति का जो विकास हुआ है, मनुष्य ने जो ज्ञानोपार्जन और चिन्तन किया है, उससे जिस संस्कृति की विभिन्न युगों में सृष्टि हुई है, उसका यथार्थ ज्ञान रखने से ही और उस संस्कृति के उपयोगी अंशों को सुरक्षित रखते हुए उसको नया रूप प्रदान करके ही नवसंस्कृति का निर्माण हो सकता है'। उनकी धारणा थी कि 'इतने काल के सामाजिक विकास के बाद जो मौलिक मानवीय सत्य प्रतिष्ठित हो गये हैं, उन पर जोर देना, उन्हें समाज के पुनर्निर्माण में उचित स्थान दिलाने का प्रयत्न करना नितान्त आवश्यक है। उनकी अवहेलना करके सभ्य और सुन्दर सामाजिक जीवन नहीं चलाया जा सकता'। इस तरह नरेन्द्रदेवजी के विचार में जहाँ काल के प्रवाह से जीर्ण और अनुपयोगी' पुराने विचारों का 'परित्याग' जरूरी है, वहाँ 'क्षणिक नैतिकता के नाम पर सभी पुराने आदर्शों और सिद्धान्तों का बहिष्कार' तथा 'समाज के दीर्घकालीन अनुभव तथा संचित ज्ञान का अनादर अनुचित होगा'। उनकी राय में हमारा कर्तव्य है कि 'हम अपनी संस्कृति का सतर्क और वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करें, उसके जीवनपूर्ण तत्त्वों की रक्षा करें और आधुनिक विचारों से उनका सामञ्जस्य स्थापित करें'। नव संस्कृति के

निर्माण के लिये पुरानी संस्कृति के सजीव तत्त्वों की रक्षा के साथ-साथ 'जीवन के विकासोन्मुख मूल्यों को अपनाना' तथा 'आधुनिक ज्ञान को अधिकृत कर देशकाल के अनुसार उसका प्रयोग' करना भी जरूरी है। विचारों के संघर्ष से ही नवीन विचार पल्लवित होते हैं'। 'आदान प्रदान से ही संस्कृतियाँ पुष्ट और ऐश्वर्यमय हुआ करती हैं'। अतः 'जो लोग नवीन मूल्यों को ग्रहण करने से भागते हैं और विचारधारा सम्बन्धी संघर्ष से घबराते हैं, वे अपने को विकास के पथ से विरत करते हैं'। पश्चिम की देन को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। 'उन सामाजिक और राजनीतिक मूल्यों को अपनाना ही होगा जो वर्तमान समाज के लिये अपरिहार्य हैं'। समाज हित तथा संस्कृति के विकास में विज्ञान का समुचित उपयोग भी नितान्त आवश्यक है।

सांस्कृतिक पुनर्जीवन

जहाँ नरेन्द्रदेवजी प्राचीन भारतीय संस्कृति के सर्वजनीन सजीव तत्त्वों का संरक्षण और नवीन संस्कृति में उनका समुचित समावेश आवश्यक समझते थे, वहाँ वे प्राचीन संस्कृति के पुनर्जीवन के आन्दोलन को निरर्थक ही नहीं हानिकर समझते थे। उनके विचार में 'पुरानी पद्धतियों को पुनः जीवित करने की चेष्टा घातक सिद्ध होगी। नया सामाजिक दृष्टिकोण जिसके विकास की हम लोग चेष्टा करते रहे हैं और जिसके द्वारा ही जन-शक्ति प्रदान की जा सकती है, उस प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण से दबा दिया जायगा जो भविष्य की भूतकालीन व्यवस्था का पोषक है'

भारतीय संस्कृति का वैज्ञानिक अध्ययन

डाक्टर मंगलदेव शास्त्री द्वारा रचित 'भारतीय संस्कृति का विकास—वैदिक धारा' पुस्तक की भूमिका में नरेन्द्रदेवजी ने लिखा कि 'भारतीय संस्कृति को तीन दृष्टियों से देखा जाता है। एक तो परम्परावादियों की संकीर्ण साम्प्रदायिक दृष्टि है और दूसरी इसके प्रतिवाद स्वरूप आधुनिकतावादियों की दृष्टि है जो सारी प्राचीन परम्परा को अन्ध-विश्वास और प्रतिक्रियावादिता ही मानती है। तीसरी दृष्टि ऐतिहासिक समन्वय की दृष्टि है जो प्राचीन तथा नवीन, प्राच्य तथा पाश्चात्य को ऐतिहासिक दृष्टि से समन्वित करके भारत के विभिन्न समुदायों तथा

धर्मों के योग से भारतीय संस्कृति का स्वरूप निर्मित करती है। स्पष्ट है कि यही वैज्ञानिक दृष्टि संकीर्ण साम्प्रदायिक भावनाओं और विषमताओं को दूर करके देश के समस्त समुदायों में एकसूत्रता ला सकती है, राष्ट्र में एकात्मता की भावना उत्पन्न कर सकती है और देश की अनेक नवीन तथा विषम समस्याओं का समाधान कर सकती है'।

भारतीय संस्कृति के सजीव तत्त्व

नरेन्द्रदेवजी के विचार में भारतीय संस्कृति का 'सबसे बड़ा तत्त्व विभिन्न जीवन-प्रणालियों में एकता और जीवन के हर क्षेत्र में समन्वय स्थापित करना है। ··· वैविध्य और वैभिन्य में एकता का सूत्र हमें सदा से अनुप्राणित करता रहा है'। उनके विचार में भारतीय संस्कृति की दूसरी विशेषता 'नैतिक व्यवस्था की स्थापना' तथा 'आचरण की शुद्धता' है। अपना ख्याल रखते हुए दूसरों का भी ख्याल रखना संस्कृति का मूल मन्त्र है। इसीलिये हमारे यहाँ कहा गया है कि 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'। यह सामाजिकता और मानवता का मूलमन्त्र है। 'उसका तीसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व विश्वभावना है, 'आत्मौपम्येन' तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की शिक्षा है। नरेन्द्रदेव जी का कहना था कि 'हमारी संस्कृति के दो पहलू रहे हैं। एक व्यक्तिवादी दूसरा समष्टिवादी अर्थात् विश्वजनीन। जब कभी हमने अपनी संस्कृति के सर्वजनीन पहलू पर ध्यान केन्द्रित किया, भारत का गौरव बौद्धिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में अधिक बढ़ा। यदि हम विश्व-प्रेम की भावना को, जो मानवमात्र के प्रति प्रेम उपजाती है, फिर अपना लें तो हम अपने देश को उसी स्तर पर पहुँचा सकते हैं'।

सारांश

इस तरह प्राचीन भारतीय संस्कृति के सर्वथा परित्याग की भावना तथा उसके पुनर्जीवन के आन्दोलन का विरोध करते हुए नरेन्द्र-देवजी 'एक ऐसी नयी सभ्यता का निर्माण करना चाहते थे, जिसका रूप रंग देशी हो, जिसमें पुरातन सभ्यता के उत्कृष्ट अंग सुरक्षित रहें और साथ-साथ उनमें ऐसे नवीन अंशों का भी समावेश हो जो आज जगत में प्रगतिशील हैं और संसार में नवीन आदर्श उपस्थित करना चाहते हैं'।

संस्कृत वाङ्मय

आचार्य नरेन्द्रदेव संस्कृत वाङ्मय की व्यापकता, गरिमा और गाम्भीर्य पर मुग्ध थे। वे बौद्ध और जैन आगम ग्रन्थों को भी संस्कृत वाङ्मय में शामिल करते थे और संस्कृत वाङ्मय के साथ-साथ इनका अध्ययन भी आवश्यक समझते थे। पर इस सब के साथ-साथ अर्वाचीन पाश्चात्य विद्याओं का अध्ययन भी वे आवश्यक बताते थे। उनके विचार में 'ज्ञान के सदृश दूसरी पवित्र वस्तु नहीं है', अतः 'विदेशियों से उसे लेने में हमें संकोच नहीं करना चाहिए'।

मातृभाषा

नरेन्द्रदेवजी मातृ-भाषाओं के अध्ययन तथा उनके साहित्यिक भण्डार की अभिवृद्धि पर विशेष जोर देते थे। उनका कहना था कि 'माधुर्य और प्रसाद गुण मातृ-भाषा के साहित्य में ही सुगमता से आ सकता है। अतः मातृभाषा में साहित्य सृजन करने में हम को गौरव का अनुभव करना चाहिए'। उन्हें इस बात की खुशी थी कि 'सब देशी भाषाओं में एक ही प्रकार का झुकाव पाया जाता है', सभी 'स्थानीय प्रभावों के अतिरिक्त देशव्यापी भावों से प्रभावित' हैं। वे इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करना राष्ट्र निर्माण के लिये आवश्यक समझते थे।

हिन्दी का प्रसार

आचार्य नरेन्द्रदेव के विचार में 'एक सामान्य संस्कृति को विकसित करने के लिये हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार' किया जाना भी आवश्यक है। पर उनकी धारणा थी कि यह काम 'अहिन्दी भाषा-भाषियों के हार्दिक सहयोग से और उनकी सद्भावना द्वारा ही सिद्ध हो सकता है'। वे यह जानते थे कि 'असहिष्णुता और जल्दबाजी से हिन्दी का प्रचार नहीं होगा'। उससे तो काम बनने की बजाय बिगड़ेगा, भाषावाद का बितंडा खड़ा हो जायगा, राष्ट्रीय एकता को हानि होगी। आचार्यजी का विचार था कि 'राष्ट्रीय एकता को प्रतिष्ठित करने के लिये मेल की प्रक्रिया की गति को तेज करना जरूरी है'। इस उद्देश्य से उनके विचार में 'हिन्दी भाषा-भाषियों को दक्षिण की एक

भाषा का अध्ययन करना चाहिए'। 'अहिन्दी भाषाभाषी अपनी-अपनी भाषा के साथ-साथ हिन्दी का भी अध्ययन करें जिसमें शनैः शनैः हिन्दी भाषा व्यापक रूप से देश में फैल जाय'। नरेन्द्रदेवजी की यह भी राय थी कि 'जहाँ तक सम्भव हो सब देशी भाषाओं में समान पारिभाषिक शब्द व्यवहार में आवें', 'सब भारतीय भाषाएं एक लिपि को अपनायें' और 'हिन्दी भाषा के भण्डार को दूसरी भारतीय भाषाओं के साहित्यरत्नों के अनुवाद से परिपूर्ण किया जाय'। उनका कहना था कि राष्ट्रीय साहित्य को 'राष्ट्रीयता और जनतन्त्र' का, जो 'युग धर्म' हैं, 'प्रतिनिधित्व' करना पड़ेगा, पर उसमें यह सामर्थ्य तभी आ सकती है कि 'जब हिन्दी भाषा-भाषियों की चिन्तनधारा उदार और व्यापक हो और जब हिन्दी साहित्य भारत के विभिन्न साहित्यों को अपने में आत्मसात करें और उत्तर दक्षिण के भेद को मिटा दें'। उनकी इच्छा थी कि 'सब की समवैत चेष्टा से हिन्दी भाषा का साहित्य समृद्ध और उज्जवल हो, जिसमें उसको राष्ट्रीय पद प्राप्त हो सके, उसका सबको समान रूप से उचित गर्व हो'। इसके लिये विद्यार्थियों को कई भाषाएं अवश्य सीखनी होंगी। पर आचार्यजी इससे घबड़ाते नहीं थे। उनका तो कहना था कि 'भविष्य में किसी भी व्यक्ति को शिक्षित नहीं समझना चाहिए जब तक वह दो-तीन देशी भाषाओं का ज्ञान नहीं रखता' हो।

साहित्य और जीवन

आचार्य नरेन्द्रदेव जीवन और साहित्य के घनिष्ट सम्बन्ध पर जोर देते थे। उनका कहना था कि जीवन की कलात्मक अभिव्यक्ति साहित्य का एक प्रमुख काम है। अतः जीवन को सञ्चालित करने वाली शक्तियों के आधार पर ही साहित्य का मानदण्ड निश्चित किया जा सकता है। मनुष्य एक सामाजिक जीव है। उसके जीवन की प्रक्रियाएं समाज में होती हैं, समाज द्वारा प्रभावित होती हैं, समाज को प्रभावित करती हैं। अतः साहित्यकार का कर्तव्य है कि वह 'मनुष्य को समाज से पृथक करके अमूर्त मानवता के स्वतन्त्र प्रतीक के रूप में न देख कर उसे सामाजिक प्राणी के रूप में देखे। ऐसे समाज के सदस्य के रूप में जिसमें निरन्तर संघर्ष हो रहा है और जो इन संघर्षों के कारण प्रतिच्चण परिवर्तनशील है'।

साहित्य का सामाजिक ध्येय

नरेन्द्रदेवजी तसलीम करते थे कि 'प्रत्येक रचनात्मक कृति द्वारा रचयिता को एक प्रकार का आन्तरिक सन्तोष होता है' और इस अर्थ में 'स्वान्तः सुखाय' की धारणा 'यथार्थ' है। पर 'कला सोद्देश्य होती है। प्रायः प्रत्येक रचना के पीछे एक सन्देश होता है'। साहित्य, साहित्यकार के दृष्टिकोण पर आधृत होता है, वह 'एक सामाजिक प्रक्रिया है। इसका समाज पर अनिवार्य रूप से प्रभाव पड़ता ही है। अतः साहित्यकार का कर्तव्य है कि वह अपनी रचनाओं की सामाजिक प्रतिक्रियाओं पर सदा ध्यान रखे तथा व्यापक दृष्टिकोण से साहित्य का सृजन करे, ताकि उसकी रचनाएं जीवन के उत्कर्ष और समाज की प्रगति में सहायक हो सकें'।

नरेन्द्रदेवजी के विचार में 'विश्वव्यापी जीवन-दृष्टिकोण' को अपना कर ही साहित्यकार प्रगतिशील साहित्य का सृजन कर सकता है। 'मानवीय भावनाएं साहित्य के उपजीव्य हैं'। 'जीवन के केन्द्र में मानव को प्रतिष्ठित करने वाला साहित्य ही प्रगतिशील साहित्य है'।

साहित्यिक का कार्य

आचार्य नरेन्द्रदेव की धारणा थी कि 'साहित्यिक अपने कर्तव्य का तभी निर्वाह कर सकता है जब कि वह जीवन का गहराई से अध्ययन करे, वह समाज की जीवन-सरिता में ऊपरी तल पर सञ्चालित होने वाली प्रवृत्तियों तक ही अपनी दृष्टि को सीमित न रखे, अन्तःसलिला सरस्वती की भाँति नीचे रह कर प्रच्छन्न रूप से काम करने वाली शक्तियों का भी अध्ययन करे'। अतः 'प्रगतिशील साहित्यिक को जीवन की समस्याओं का अध्ययन करना होगा, अपनी रचनाओं में उसे समाज के वर्तमान रूप का चित्रण करना होगा, जनता की मूक अभिलाषाओं को वाणी देना होगी, इतिहास का अध्ययन करके उसकी जीवन-दायिनी शक्तियों का समर्थन करते हुए जनता का मार्ग प्रदर्शन करना होगा'।

आचार्य नरेन्द्रदेव के विचार में साहित्यिक क्षेत्र में साहित्यिकों को 'चतुर्दिक व्याप्त संघर्ष, असंतुलन और असामञ्जस्य' का मुकाबला करना होगा तथा 'संघर्ष को समाप्त कर समाञ्जस्य स्थापित' करना ही होगा। उन्हें अवश्य ही 'उस साहित्य का विरोध करना है जिसकी

दृष्टि अतीत की ओर है, जो प्राचीनता और परम्परा का अन्धपुजारी है, जिसकी आस्था विश्व के प्रति नहीं, वर्तमान भारत के प्रति नहीं, बल्कि प्राचीन भारत के किसी कल्पित विकृत रूप के प्रति है, जो संकुचित आकर्षणशील राष्ट्रीयता का प्रचार कर रहा है'। पर प्रगतिशील साहित्य के सृजन में संलग्न साहित्यकार को यह भी याद रखना है कि 'नयी व्यवस्था की स्थापना के साथ प्राचीन का सर्वथा लोप नहीं होता। अर्वाचीन में एक नैरन्तर्य, एक श्रृङ्खला, एक परम्परा बनी रहती है'। अतः 'अतीत के अनुभव के आलोक में वर्तमान को देखना तथा आज के समाज में जो शक्तियाँ काम कर रही हैं, उसको समझना तथा मानव-समाज की दृष्टि से उसका सञ्चालन करना कलाकार का काम है'। वह 'अतीत का सर्वथा परित्याग नहीं करता। वह साधक तत्त्वों को चुन लेता है, बाधक तत्त्वों का परित्याग करता है', साथ ही साथ 'नवीन जीवन के विकासमान मूल्यों को' अपनाता है तथा प्राचीन साधक तत्त्वों और नवीन विकासमान मूल्यों के समन्वय द्वारा 'स्वास्थ्यप्रद साहित्य' एवं नवीन संस्कृति का सृजन करता है। समाज की प्रगति में यही कलाकार का महत्त्वपूर्ण योग है।

आचार्य नरेन्द्रदेव का विचार था कि 'साहित्यिक अपने को जनता का पथ-प्रदर्शन करने के योग्य तभी बना सकता है, जब कि वह अपने को जीवन-संघर्ष से सर्वथा पृथक न रखे, उसमें जनसाधारण के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करने की क्षमता हो, वह इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन करके उसके विकास की दिशा को पहचानने में समर्थ हो, उसकी जीवनदृष्टि सही हो' तथा उसे 'आत्माभिव्यक्ति' की पूरी स्वतन्त्रता हो। उनका कहना था कि 'जीवन-संघर्ष से पृथक रह कर सच्चे और प्रगतिशील साहित्य का सृजन सम्भव नहीं है'। पर वे मानते थे कि जहाँ 'संघर्ष के इतने निकट रहना कि वह उसका निरीक्षण कर सके' साहित्यिक के लिये आवश्यक है, वहाँ 'संघर्ष के सम्बन्ध में निष्पक्ष सम्मति बना सकने और साहित्य-सृजन के लिये अवकाश प्राप्त करने के लिये संघर्ष में सक्रिय भाग लेने से कलाकार को बचना पड़ता है'। साहित्य तो साहित्यिक की 'आत्माभिव्यक्ति का दूसरा नाम है'। उसके लिये कलाकार की आत्माभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा तो परम आवश्यक ही है।

सत्यं, शिवं, सुन्दरम्

नरेन्द्रदेवजी 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' का सिद्धान्त मानते थे। पर उनका कहना था कि परिस्थितियों के सन्दर्भ में इन मूल्यों की परिभाषा भी बदलती रही है। आज के वैज्ञानिक युग में व्यक्तिवाद, स्वार्थ और होड़ के सिद्धान्त को छोड़ कर सहकारिता द्वारा ही हम अपने जीवन में इन मूल्यों को आत्मसात कर सकते हैं, उपलब्ध साधनों का ठीक ठीक प्रयोग कर मानव-कल्याण की अभिवृद्धि कर सकते हैं।

कला के क्षेत्र में 'उन्मुक्त वातावरण में' इन तीनों मूल्यों की वे ऐसी 'समन्वित अभिव्यक्ति' चाहते थे जिससे 'स्वतन्त्र समाज के मानव-मूल्यों, सामाजिक आदर्शों, सामाजिक आकाँक्षाओं तथा व्यक्तियों की मानवोचित भावनाओं का उपयुक्त तथा सुबोध रूप में निरूपण' सम्भव हो। उनके विचार में समाजवादी समाज में 'कला वस्तुवादी होगी और सामाजिक तथा वस्तुगत और बुद्धिगत सत्यों का समान' रूप से प्रतिपादन करेगी। वह स्वतन्त्र सामूहिक प्रयास द्वारा प्राप्त होने वाले सुख और आनन्द को मूर्तिमान करेगी'। नरेन्द्रदेवजी की धारणा थी कि 'सत्य, शिव और सुन्दर' कला के अविच्छिन्न अवयव हैं। अतः यह जरूरी है कि सत्य की अभिव्यक्ति इस प्रकार की जाय कि उससे आनन्द और सामञ्जस्य की वृद्धि हो, न ही सुख और आनन्द को असत्य और असामञ्जस्य से मिलाया जाय और न सौन्दर्य में सत्य, सामाजिक सुख और सद्गुण का अभाव हो।

६. सिद्धान्त

व्यक्ति और समष्टि

व्यक्ति और समष्टि के पारस्परिक सम्बन्ध के प्रश्न पर शुरू से ही कई विचार धाराएं प्रचलित रहीं हैं। कुछ विद्वान व्यक्ति को समाज का मूल आधार स्वीकार करते हुए व्यक्तिवाद को पुष्ट करते हैं। उनके विचार में समाज व्यक्तियों का समूह है, प्रत्येक मनुष्य स्वतः उद्देश्य स्वरूप है, व्यक्तिगत प्रेरणाएं और स्वार्थ ही सामाजिक प्रक्रियाओं का मूल स्रोत हैं, व्यक्तिगत हितों की उपलब्धि में रुकावटों को दूर करना ही सामाजिक व्यवस्था का प्रमुख उद्देश्य है। कुछ विद्वान् व्यक्ति के बजाय समष्टि की प्रधानता स्वीकार करते हुए समष्टिवाद को पुष्ट करते हैं। ये विचारक व्यक्ति को समष्टि का अवयव मात्र समझते हैं, व्यक्तिगत मानस को समष्टि के लोकमानस की कृति मानते हैं, समष्टि के उद्देश्य की सिद्धि ही व्यक्ति की वृत्ति स्वीकार करते हैं। जहाँ प्लेटो समष्टिवादी था, अरिस्टाटल मूलतः व्यक्तिवादी था। इसी तरह हीगल समष्टिवादी और कान्ट व्यक्तिवादी था। जहाँ व्यक्तिवाद ही पूंजीवाद और उदारवाद का मूल दार्शनिक आधार है, वहाँ समाज की समष्टिवादी व्याख्या ही फासिज्म और नाजिज्म की सामाजिक व्यवस्था का मूल आधार हैं। उनके विचार में राष्ट्र और राज्य सब कुछ हैं, व्यक्ति कुछ नहीं है। राष्ट्र और राज्य के व्यक्तित्व में अपने व्यक्तित्व को विलीन करने में ही व्यक्ति की सफलता और परिपूर्णता है।

हीगल के विचारों से प्रभावित बहुत से कम्यूनिस्ट और कतिपय समाजवादी भी समष्टिवाद का समर्थन करते हैं। उनके विचार में भविष्य के आदर्श-समाज में मनुष्य अपने व्यक्तित्व का अनुभव ही नहीं करेगा और हर प्रकार से समुदाय में विलीन हो जायगा। उसका जीवन सामुदायिक जीवन हो जायगा; उसके विचार, उसकी अभिलाषाएं सामुदायिक हो जायंगी।

पर बहुत से विचारक व्यक्ति के महत्त्व को सर्वथा विनष्ट करने वाली इस समष्टिवादी विचारधारा को स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। वे

समष्टि में व्यक्ति को विलीन करने के बजाय समता और स्वतन्त्रता के आधार पर एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते हैं जिसमें समष्टि और व्यक्ति का सामञ्जस्य हो, व्यक्ति समष्टि के महत्त्व और मर्यादाओं को स्वीकार करे, प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास और अभिव्यक्ति की समानरूप से समुचित सुविधा और स्वतन्त्रता प्राप्त हों, समष्टि के अधिकार और शक्ति का प्रयोग मानव हित की पुष्टि में हो।

आचार्य नरेन्द्रदेव व्यक्तिवादी और समष्टिवादी सामाजिक विश्लेषणों के समन्वय और सामञ्जस्य पर विश्वास करते थे। वे व्यक्ति और समष्टि दोनों के महत्त्व को स्वीकार करते थे, दोनों को अपनी गति, प्रगति के लिये अन्योन्याश्रित समझते थे। जहाँ व्यक्तिवादी व्यक्तिगत मानस के महत्त्व को स्वीकार करते हुए लोकमानस के अस्तित्व को स्वीकार ही नहीं करता और जहाँ समष्टिवादी लोकमानस की प्रधानता को स्वीकार करते हुए व्यक्तिगत मानस की स्वतन्त्र सत्ता को अस्वीकार करता है, वहाँ नरेन्द्रदेवजी 'समाज के सम्बन्धों को समझने के लिये व्यक्तिगत मानस और लोकमानस' दोनों पर विचार करना आवश्यक समझते थे। जहाँ व्यक्तिवादी मनुष्य की व्यक्तिगत प्रेरणाओं और क्रियाकलापों को सामाजिक प्रक्रियाओं का मूल आधार मानते हैं और समष्टिवादी व्यक्तिगत चेष्टाओं और गतिविधि को लोकमानस और सामाजिक प्रक्रियाओं और परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब समझते हैं, वहाँ नरेन्द्रदेवजी व्यक्ति और समाज दोनों के महत्त्व को स्वीकार करते हुए संसार के समस्त व्यापार को मानव और समाज दोनों की क्रिया-प्रतिक्रियाओं का परिणाम समझते थे।

नरेन्द्रदेवजी के विचार में 'वस्तुतः व्यक्ति और समष्टि में कोई नैसर्गिक विरोध नहीं है'। विशुद्ध अहम् एक बौद्धिक कल्पना है, पूर्ण रूप से आत्मपूरित व्यक्ति का विचार नितान्त काल्पनिक है। 'मनुष्य सामाजिक प्राणी है', 'समाज के बाहर उसका अस्तित्व नहीं है'। समाज मनुष्य के जीवन का अनिवार्य तत्त्व है। 'सामुदायित्व अनिवार्य है'। उसको 'स्वीकार करके ही व्यक्ति आगे बढ़ सकता है'। 'मानवीय गुणों की सृष्टि समाज में ही होती है'। 'समाज में ही मानव का विकास हुआ है'। 'समाज से ही वह अपनी शक्तियों के विकास के लिये सामग्री पाता है, समाज में ही वह शक्तियों का प्रयोग कर उनको

विकसित करता है'। सामाजिक विकास के साथ ही साथ 'धीरे-धीरे व्यक्तित्व समृद्ध होता है'। 'ज्यों-ज्यों समाज ऊंचे स्तर में उठता है त्यों त्यों व्यक्तित्व के विकास की गहराई बढ़ती जाती है'। एक कबीले के व्यक्ति और राष्ट्र के व्यक्ति की तुलना करके इसका अनुमान लगाया जा सकता है। दोनों के विचार, अनुभव और कल्पना में 'आकाश-पाताल का अन्तर है'। उस व्यक्ति के 'व्यक्तित्व की उदारता, समृद्धि और वैचित्र्य का क्या कहना' जो 'राष्ट्र की सीमा का उल्लंघन' कर, 'जाति, धर्म, रंग का भेद न कर मनुष्य मात्र के प्रति आदार और प्रीति का भाव रखता है' और जिसकी 'सूक्ष्म दृष्टि ··· गम्भीर और कोमल अनुभूति सकलविश्व से उसका तादात्म्य स्थापित करती है'। ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व 'जगद्वन्द्य' है। इस तरह नरेन्द्रदेवजी के विचार में 'समग्र की पूर्णता में ही व्यक्ति की पूर्णता है, समाज का अंग बन कर ही, अपने संकुचित स्वार्थ को परित्याग करके ही, सहयोगयुक्त मानवकल्याण के प्रयासों द्वारा ही, व्यक्ति अपनी पूर्णता प्राप्त कर सकता है। आज की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए मनुष्य को यह सब काम स्वेच्छा से ही करना है। इसी में उसका नैतिक विकास और समाज का भला है'।

पर व्यक्ति के महत्त्व को सर्वथा विनष्ट करके उसके अस्तित्व को समाज में सर्वथा विलीन करके भी मानव कल्याण की अभिवृद्धि सम्भव नहीं है। व्यक्ति साधन और साध्य दोनों है। मानव-शक्ति समाज हित की पुष्टि और अभिवृद्धि का एक महत्त्वपूर्ण उपकरण है। पर प्रत्येक व्यक्ति का अपना जीवन और लक्ष्य है। जीवन का विकास और लक्ष्य की साधना भी उसका कर्तव्य है। इसके लिये उसे सामाजिक साधनों के साथ-साथ स्वतन्त्र वातावरण की भी आवश्यकता है। नरेन्द्रदेवजी के विचार में 'स्वतन्त्र वातावरण में ही व्यक्तित्व निखरता है, उसका विकास होता है'। उनका कहना था कि स्वतन्त्र जीवन ऐसे समाज में ही सम्भव है जहाँ एक व्यक्ति को अपने नैतिक, बौद्धिक और कलात्मक जीवन की अभिव्यक्ति का पूरा और स्वतन्त्र अवसर प्राप्त हो और 'सामान्य जन गरीवी और अरक्षता से मुक्त हो'। 'यदि राज्य की ओर से व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण होता है, यदि इनके नागरिक अधिकार सुरक्षित नहीं हैं, यदि उसको अपने भावों को

व्यक्त करने तथा दूसरों के साथ सहयोग कर किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये संगठन बनाने की स्वतन्त्रता नहीं है तो व्यक्ति के विकास में बाधा पहुँचती है' ।

पर जिस तरह व्यक्तित्व के विकास के लिये स्वस्थ स्वतन्त्र सामाजिक वातावरण तथा सामाजिक सुविधाओं और साधनों की आवश्यकता होती है, उसी तरह समाज के विकास के लिये 'विभूति से सुशोभित मानव' जरूरी है। 'व्यक्तित्व को मिटा कर समाज समृद्ध नहीं हो सकता'। इतिहास साक्षी है कि जिस समाज में व्यक्ति के विकास में बाधा पहुँचायी गयी, उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण किया गया और राज्य या समाज की ओर से विचारों का दमन हुआ उस समाज में गत्यावरोध हुआ तथा उसका ह्रास और पतन हुआ' ।

इस तरह स्वतन्त्र वातावरण में ही व्यक्तित्व के विकास के साथ-साथ 'समाज की उन्नति का क्रम' सम्भव है। पर समाज में 'व्यक्तियों को अमर्यादित स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती'। व्यक्तित्व के विकास तथा समाज की सुव्यवस्था दोनों के लिये व्यक्ति की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में मर्यादा को स्वीकार करना जरूरी है। पर 'स्वतन्त्रता का अर्थ उच्छृङ्खलता नहीं है, मर्यादाहीनता नहीं है। विकास प्राप्त मानव सुसंस्कृत है। वह दूसरों की स्वतन्त्रता का ध्यान रखता और स्वयं संयत होता है' ।

इस तरह अति व्यक्तिवाद और अतिसमष्टिवाद के भयावह दावों का 'प्रतिवाद' करते हुए नरेन्द्रदेवजी ने व्यक्ति की मर्यादित स्वतन्त्रता तथा समष्टि के मर्यादित अधिकार को पुष्ट किया तथा 'व्यक्ति और समष्टि के सामञ्जस्य' को व्यक्तित्व के विकास तथा समाज की उन्नति दोनों के लिये जरूरी बताया।

नरेन्द्रदेवजी अपनी इस व्याख्या को मार्क्स और एंगिल्स के विचारों के अनुकूल समझते थे। उनका कहना था कि मार्क्स और एंगिल्स व्यक्ति को समष्टि में विलीन करने तथा मानव-स्वतन्त्रता का अपहरण करने के बजाय जीवन भर जनता की स्वतन्त्रता के लिये प्रयत्नशील रहे। वे दोनों व्यक्ति के पूर्ण विकास एवं जनसाधारण की स्वतन्त्रता को पुष्ट करने के निमित्त ही समाजवादी समाज का निर्माण

करना चाहते थे। मार्क्स ने स्वयं कहा है कि 'हम उन कम्यूनिस्टों में नहीं हैं जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता का नाश करने के लिये कटिबद्ध हों, जो समाज को एक विशाल बैरक या कारखाने में परिणित करना चाहते हैं। हम लोग स्वतन्त्रता के बदले बराबरी नहीं चाहते। हम लोगों का विश्वास है कि किसी भी सामाजिक व्यवस्था में वैसी पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती जैसी ऐसे समाज में जो सामाजिक स्वामित्व पर आधारित हो'। नरेन्द्रदेवजी का कहना था कि मार्क्स तो राज्य के व्यक्तित्व में मानव के व्यक्तित्व को विलीन या विनिष्ट करने के बजाय ऐसे राज्यविहीन समाज की स्थापना करना चाहता था जिसमें मानव सर्व प्रकार के आधिपत्य और बाह्य नियन्त्रण से मुक्त हो, आत्मनियन्त्रण के सहारे स्वस्थ सामाजिक जीवन व्यतीत कर सके तथा सहयोगयुक्त मानव-कल्याण के प्रयासों द्वारा अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सके। नरेन्द्रदेवजी का कहना था कि मार्क्स स्वयं इस बात को स्वीकार करता था कि जिस प्रकार परिस्थितियाँ मनुष्य को बनाती हैं, उसी प्रकार मनुष्य परिस्थितियों को बनाता है। परिस्थितियों की गति-विधि और सम्भावनाओं की पृष्ठभूमि में संगठित मानव प्रयत्नों द्वारा ही समाज का क्रान्तिकारी नवनिर्माण सम्भव है।

जाति-व्यवस्था की समीक्षा

आचार्य नरेन्द्रदेव जाति-व्यवस्था तथा साम्प्रदायिकता को भारत के लिये अभिशाप समझते थे। वे स्वीकार करते थे कि जाति प्रथा बहुत 'पुरानी' और 'उसकी जीवन-शक्ति आश्चर्यजनक' है। पर उनके विचार में वह 'कालविपरीत तथा तत्त्वहीन' हो चुकी है और उसके कारण 'हिन्दू समाज का ह्रास और विघटन' होता जा रहा है। उन्हें दुःख था कि स्वराज्य का मन्तव्य ठीक तौर पर न समझने के कारण स्वतन्त्रता के बाद जातिभावना क्षीण होने के बजाय 'दृढ़' होती जा रही है और उसने हमारे जीवन को विकृत और विषाक्त बना डाला है। वे जातिविहीन समाज को युग की माँग मानते थे। उनके विचार में 'जो संस्कृति भेदभाव रखती हो, मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखना नहीं चाहती हो, उस संस्कृति से आज हम अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं कर सकते। जो भेदभाव रखते हैं, मनुष्य को मनुष्य के रूप में

नहीं बल्कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में देखना चाहते हैं वे आज के युग में नागरिक होने के पात्र नहीं हैं'।

ऊंची जातियों के पारस्परिक राजनीतिक संघर्षों को वे स्थिर स्वार्थों पर आश्रित प्रतिक्रियावादी मध्ययुगीय मनोवृत्ति का कुचक्र समझते थे। हाँ, वे यह स्वीकार करते थे कि 'चुनावों में ऊंच और नीच जातियों का संघर्ष वस्तुतः शोषकों और शोषितों के बीच चलने वाले संघर्ष का रूप है'। पर उनके विचार में संघर्ष का यह स्वरूप ठीक नहीं है। इस प्रकार जाँत-पाँत के आधार पर जातिवाद को दृढ़ बना कर वर्गविहीन समाजवादी समाज या स्वस्थ जनतन्त्र की स्थापना नहीं हो सकती। वे चाहते थे कि जनतान्त्रिक राज्य तथा समाजवादी समाज की स्थापना के निमित्त शोषित जनता को समझाया जाय कि 'जाति, बंश और सम्प्रदाय के भेदों को भुला कर शोषक वर्गों के आर्थिक प्रभुत्व के विरुद्ध वे संयुक्त मोर्चा कायम करें, चूसे जाने वाले मेंहनतकशों का बिला लिहाज जात-पाँत और मजहब-मिल्लत एक खेमा बने' और उनके संयुक्त संघर्षों और प्रयत्नों द्वारा शोषणविहीन समाज का निर्माण हो। उनके विचार में 'केवल एक समाजवादी समाज में जो समता और सामाजिक न्याय पर प्रतिष्ठित होता है, उनकी सामाजिक, आर्थिक दशा में सुधार किया जा सकता है'। वे यह भी सोचते थे कि 'यदि हम निम्न जातियों को उचित रीति से शिक्षित करें और अपने आचरण से उन्हें दिखा दें कि हम उनके सामाजिक और आर्थिक स्तर को ऊंचा करने की सचमुच इच्छा रखते हैं और हम उनके उचित राजनीतिक अधिकारों को स्वीकार करने को तथा अपने एकाधिकार की प्रवृत्तियों को त्यागने को तैयार हैं तो जात-पाँत के संकीर्ण आधार पर छोटे-छोटे गुट बनाने की निरर्थकता हम उन्हें समझा सकते हैं'।

साम्प्रदायिकता की समीक्षा

नरेन्द्रदेवजी के विचार में 'साम्प्रदायिकता लोकतन्त्र का सबसे बड़ा शत्रु' तथा समाजवाद के मार्ग में 'सबसे बड़ी अड़चन' है। उससे 'हमारे राष्ट्र को खतरा' है। उनका कहना था कि 'साम्प्रदायिकता के कारण हमारी परम्परागत चिन्तन प्रणाली ने, जिसका हमारी वर्तमान समस्याओं से कोई मेल नहीं है, अतिशय महत्त्व प्राप्त कर लिया है'

इस तरह साम्प्रदायिकता द्वारा सामाजिक क्रान्ति की 'भ्रूण हत्या' हो रही है। साम्प्रदायिक संस्थाएँ तो वास्तव में 'आस्तीन का साँप' हैं। उनके द्वारा जनकल्याण की अभिवृद्धि असम्भव है। वे तो वास्तव में प्रतिगामिता की पोषक हैं। नरेन्द्रदेवजी की धारणा थी कि 'जब तक इस देश के हिन्दू, सिक्ख और मुसलमान सही अर्थों में एक नहीं हो जाते, सबके सब राष्ट्रीयता के रंग में रंगे नहीं जाते और यह नहीं समझ लेते कि हिन्दुस्तान इन सब का देश है तथा सबको बराबर के अधिकार और उन्नति के अवसर मिलना चाहिए, उस समय तक हिन्दुस्तान में साम्प्रदायिकता के प्रश्न हल नहीं होते'।

साम्प्रदायिक राष्ट्रीयता का विरोध

नरेन्द्रदेवजी हिन्दू राष्ट्र और हिन्दू राज्य के सिद्धान्तों को गलत और हानिकर समझते थे। उनके विचार में राष्ट्रीयता 'धर्म के भेदों से परे है'। उनका कहना था कि 'राष्ट्रीयता का अर्थ हिन्दू या मुस्लिम राष्ट्रीयता नहीं है। एक देश के भौगोलिक सीमा के भीतर रहने वाले विविध धर्म और बिरादरी के लोग जब अपनी एकता का अनुभव और विदेशियों से विभिन्नता का अनुभव करते हैं तभी राष्ट्रीयता जन्म लेती है'। उनका कहना था कि 'यदि हिन्दू राज्य का नारा कार्यान्वित किया गया तो लोकतन्त्र मुर्झा जायगा और हमारी सामाजिक व्यवस्था के वर्तमान दोष स्थायी बन जायेंगे, अनुदार और प्रतिक्रियावादी शक्तियों का जोर पुनः बढ़ जायगा और हिन्दू धर्म के नाम पर इस बात की पूरी कोशिश की जायगी कि लोकतन्त्रीय आदर्शों का आर्थिक क्षेत्र में विकास न हो सके। नया सामाजिक दृष्टिकोण, जिसके विकास की हम लोग चेष्टा कर रहे हैं और जिसके द्वारा ही जनशक्ति को नयी दिशा प्रदान की जा सकती है, उस प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण द्वारा दबा दिया जायगा जो भविष्य के विरुद्ध भूतकालीन व्यवस्था का पोषक है'। उनके विचार में 'हिन्दू समाज और राष्ट्रीयता दोनों के लिये जरूरी है कि हम अपने समाज को फिर से एक ऐसे नये आधार पर संगठित करें जो लोकतन्त्र के सिद्धान्त को मानता हो और जो विभिन्न धार्मिक समूहों को एकसूत्रता में बाँध कर उन्हें एक राष्ट्र बना सके'। उनकी धारणा थी कि 'सामाजिक असमानता को दूर करना और मानवमात्र के लिये आदर का भाव रखना हिन्दुओं

की उन्नति के लिये अति आवश्यक है। यदि हम अपने घर को संभालें, देश की आर्थिक समस्या को सुलझाएँ, देश के साधनों का विकास करें तथा राष्ट्रीयता और जनतन्त्र को पुष्ट करें, जिसमें सब नागरिक समानता का अनुभव कर राष्ट्रनिष्ठ बनें, तो हम एक ऐसी शक्ति अपने में पैदा करेंगे जो अमोघ कवच का काम देगी और विदेश में हमारा सम्मान बढ़ेगा'।

भाषावाद की समीक्षा

आचार्य नरेन्द्रदेव जातिवाद और साम्प्रदायिकता के साथ साथ भाषावाद और प्रान्तीयता को भी देश का अभिशाप समझते थे तथा अन्तर्प्रान्तीय सौहार्द और देशबन्धुत्व पर आश्रित व्यापक राष्ट्रीय भावना पर जोर देते थे। वे भाषा के आधार पर प्रादेशिक इकाइयों के पुनर्निर्माण के समर्थक थे, पर वे भाषा को राष्ट्र का आधार मान कर भारत को विभिन्न भाषा-भाषी राष्ट्रों का समूह मानने को तैयार नहीं थे। भाषा के नाम पर क्षेत्रीय भावनाओं को राष्ट्रीयता की मान्यता प्रदान करना वे देश की प्रगति के लिये घातक समझते थे। वे भाषा के प्रति निष्ठा का आदर करते थे, पर इस निष्ठा को देश-प्रेम से ऊँचा या उसके समान स्थान देना गलत समझते थे। वे चाहते थे कि भाषा पर आश्रित सभी सांस्कृतिक तथा समाजिक समस्याओं का शान्तिपूर्ण ढंग से निपटारा हो, देशभक्ति और देशहित को प्राथमिकता दी जाय, प्रत्येक राज्य या प्रदेश में भाषा-भाषी अल्प-संख्यकों के साथ सद्भावनापूर्ण व्यवहार किया जाय तथा विभिन्न भाषा-भाषी समूहों में सौहार्द को पुष्ट किया जाय। अन्तर्प्रान्तीय मनमुटाव तथा क्षेत्रीय भावनाओं के दुष्परिणामों के समाधान के लिये वे एकतन्त्र शासन प्रणाली की स्थापना जरूरी नहीं समझते थे। वे संघीय शासन-विधान को ही 'भारतीय स्थिति के उपयुक्त' समझते थे। उनके विचार में सांस्कृतिक स्तर पर 'मेल की प्रक्रिया की गति को तेज' करके, विभिन्न 'प्रदेशों के सांस्कृतिक सम्बन्ध को सुदृढ़' करके, अन्तर्प्रादेशिक 'बन्धुत्व' और सौहार्द को पुष्ट करके, सामाजिक न्याय के आधार पर सब विवादों का शान्तिपूर्ण ढंग से निपटारा करके, तथा राष्ट्रीय भावना को सुदृढ़ बना कर संकीर्ण क्षेत्रीयता की समस्या का समाधान किया जा सकता है।

राष्ट्रीयता

आचार्य नरेन्द्रदेव राष्ट्रीयता को इस युग की एक बड़ी देन तथा अन्तर्राष्ट्रीयता को युग की पुकार मानते थे। राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता के सामञ्जस्य को वे संसार की शान्ति और प्रगति के लिये आवश्यक समझते थे। वे देशबन्धुत्व पर आश्रित देशसेवा की भावना से अनुप्राणित तथा विश्वशान्ति और मानवमात्र के हित से मर्यादित उदात्त व्यापक राष्ट्रीयता के समर्थक तथा आक्रमणशील संकीर्ण राष्ट्रीयता के विरोधी थे।

उनके विचार में विभिन्न सम्प्रदायों, भाषाओं और बिरादरियों से सम्बन्धित नागरिकों को एक सूत्र में बाँधने वाली व्यापक राष्ट्रीय भावना ही देश में सुख-शान्ति की स्थापना तथा समृद्धि की वृद्धि कर सकती है। राष्ट्रीय एकता की प्रक्रिया को गतिशील बनाना वे जनकल्याण के लिये नितान्त आवश्यक समझते थे। इस काम के लिये 'सामान्य जीवन ध्येय' की सृष्टि और पुष्टि, 'सहयोगयुक्त प्रयास के अवसरों का निर्माण', सहज सहानुभूति की अभिवृद्धि, शिक्षा-दीक्षा द्वारा राष्ट्रीय चरित्र तथा सामान्य आचार-व्यवहार का विकास, सामान्य प्रतीकों की प्रतिष्ठा, अल्पसंख्यक समुदायों के हितों और अधिकारों की पूरी रक्षा तथा उनकी सांस्कृतिक भावनाओं का आदर एवं पिछड़ी जातियों की उन्नति पर 'विशेष ध्यान' वे परम आवश्यक मानते थे। नरेन्द्रदेवजी के विचार में राष्ट्रीय एकरूपता का यह कार्य सौहार्दपूर्ण वातावरण में सांस्कृतिक प्रक्रियाओं द्वारा ही ठीक तौर पर हो सकता है। यह काम 'बल पूर्वक नहीं हो सकता, क्योंकि बल का प्रयोग करने से तो तीव्र प्रतिक्रिया होती है और विरोध बढ़ जाता है'।

आचार्यजी के विचार में 'सच्चे राष्ट्रवाद का जनतन्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है'। जनतन्त्र ही उदारवादी व्यापक राष्ट्रीयता का आधार हो सकता है। अधिनायकत्व तो आक्रमणशील संकीर्ण राष्ट्रीयता को ही पुष्ट करता है, 'मानवता और व्यक्ति का लोप करके राज्य को ही सर्वेसर्वा बना देता है'। उसके द्वारा विश्वशान्ति और मानव-कल्याण असम्भव है। नरेन्द्रदेवजी संकीर्ण आक्रमणशील राष्ट्रीयता को 'इस युग का सबसे बड़ा अभिशाप' समझते थे। वे उसके 'कट्टर विरोधी'

थे। वे चाहते थे कि हम इस बात का सदा ध्यान रखें कि 'हमारी राष्ट्रीयता आक्रमणशील संकुचित राष्ट्रीयता की अधोगति को प्राप्त न होने पाये'। राष्ट्रीयता की प्रतिष्ठा के लिये वे 'सामाजिक असमानताओं को दूर करना' भी जरूरी समझते थे। समत्व ही राष्ट्रीयता का सुदृढ़ आधार है। वर्गहीन समाज में ही समता, स्वतन्त्रता और सहयोग के आधार पर राष्ट्रीय भ्रातृत्व सुचारु रूप से प्रतिष्ठित हो सकता है। वर्गों में विभाजित समाज में तो राष्ट्र कई भागों में बँटा रहता है और विभिन्न वर्गों में किसी-न-किसी रूप में संघर्ष बना ही रहता है।

विश्वभावना

राष्ट्रवादी नरेन्द्रदेव विश्वभावना से अनुप्राणित थे। वे मानव समाज की एकता पर विश्वास करते थे तथा विश्वशान्ति और विश्वहित की अभिवृद्धि एवं 'विश्व-बन्धुत्व' की पुष्टि प्रत्येक व्यक्ति और समुदाय का पुनीत कर्तव्य समझते थे। 'संकीर्णता का परित्याग कर विश्वभावना का पोषण' तथा 'राष्ट्रीय प्रश्नों पर अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से विचार वे आवश्यक समझते थे'। उनका कहना था कि 'हमारी समस्याएं शुद्ध राष्ट्रीय न रहकर अन्तर्राष्ट्रीय होती जा रही हैं'। अतः इस युग में एकमात्र राष्ट्रीय भावना से काम नहीं चल सकता। उनकी धारणा थी कि 'राष्ट्रों के बीच जो गलतफहमी है उसे दूर करके समानता के सिद्धान्त पर आधारित पारस्परिक कल्याण भावना द्वारा ही हम स्थायी शान्ति एवं सुरक्षा स्थापित करने की आशा कर सकते हैं'। 'जब तक छोटे बड़े सभी राष्ट्रों के साथ समानता के आधार पर व्यवहार नहीं किया जाता, वर्तमान असमानताएं दूर नहीं की जातीं और धनी राष्ट्र गरीब राष्ट्रों के कल्याण को अपना प्रश्न नहीं समझते तब तक राष्ट्रीय संघर्षों को मिटाया नहीं जा सकता'।

उदात्त राष्ट्रीयता

इस तरह आचार्य नरेन्द्रदेव की राष्ट्रीयता देशबन्धुत्व और देशप्रेम की भावना से अनुप्राणित तथा समत्व, विश्वबन्धुत्व और जनतन्त्र की भावनाओं से समन्वित थी। वह अतिराष्ट्रवाद, विस्तारवाद और साम्राज्यशाही की भावना से रहित थी और समता के आधार पर विभिन्न राष्ट्रों के स्वतन्त्र सहयोग द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और

संगठन की समर्थक थी। देशभक्त नरेन्द्रदेव देशबन्धुत्व और देशहित की अभिवृद्धि के पोषक थे, पर वे पूंजीपतियों द्वारा समर्थित उस देशभक्ति के विरुद्ध थे जो राष्ट्र के गौरव, महिमा और वैभव के नाम पर पूंजीवादी व्यवस्था और आर्थिक साम्राज्यवाद की पुष्टि और विस्तार के लिये श्रमिक जनता को प्रेरित करती है। वे स्तालिन द्वारा प्रतिपादित और कम्यूनिस्ट अन्तर्राष्ट्रीय द्वारा समर्थित उस सोवियत भक्ति के भी विरोधी थे जो सोवियत संघ के नेतृत्व में संसार में मजदूरों की तानाशाही का समर्थन करती है और संसार की सब कम्यूनिस्ट पार्टियों को अपनी इच्छाओं को सोवियत भक्ति के अधीन रखने की सलाह देती है और पूँजीवादी साम्राज्यशाही का मुकाबला करने के नाम पर उन्हें सोवियत रूस की वैदेशिक नीति का समर्थन करने को बाध्य करती है।

पूँजीवाद की समीक्षा

आचार्य नरेन्द्रदेव सामन्तशाही के साथ साथ पूँजीवादी व्यवस्था को कालविपरीत तथा मानव के उत्कर्ष एवं समाज की प्रगति में बाधक समझते थे। वे सामन्तशाही की तुलना में पूँजीवादी व्यवस्था को अधिक प्रगतिशील मानते थे और उसकी कतिपय दीर्घकालीन मान्यताओं और देनों का संरक्षण सामाजिक विकास तथा मानव के अभ्युदय के लिये आवश्यक समझते थे। पर उनके विचार में पूँजीवादी व्यवस्था ऐसी आन्तरिक विषमताओं से दूषित है कि जिनका निराकरण पूँजीवादी सुधारों द्वारा असम्भव है। उनका कहना था कि 'उत्पादन की पूँजीवादी प्रक्रिया मानव श्रम के गौरव को नष्ट कर देती है।' मानव-श्रम 'बाजार भाव पर बाजार में बिकता है', पूँजीपतियों द्वारा उसका शोषण हो रहा है; पूंजीवादी व्यवस्था में वर्गसंघर्ष बढ़ता जा रहा है; आर्थिक शक्ति और साधन मुट्ठी भर पूँजीपतियों के हाथ में केन्द्रित हो रहे हैं; मुक्त व्यापार की प्रक्रिया ने इजारादारी का स्वरूप धारण कर लिया है; 'उत्पादन का सामाजीकरण हो गया है, पर उत्पादन के साधनों पर थोड़े से व्यक्तियों की मिलकियत बनी हुई है'।

आचार्य नरेन्द्रदेव सामन्तशाही राज्यव्यवस्था की तुलना में

पूँजीवादी लोकतान्त्रिक व्यवस्था को अच्छा समझते थे। वे यह भी स्वीकार करते थे कि सामन्तवादी आर्थिक व्यवस्था की तुलना में पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था में श्रमिक जनता अधिक स्वाधीन है। सामन्तों के अर्ध-दासों की तुलना में औद्योगिक मजदूरों को कहीं अधिक स्वतन्त्रता और अधिकार प्राप्त हैं। पर उनके विचार में पूँजीवादी व्यवस्था में भी श्रमिकों की शारीरिक और बौद्धिक शक्ति का स्वच्छन्द विकास नहीं हो पाता, आर्थिक परतन्त्रता के कारण राजनीतिक स्वतन्त्रता मानव को पराधीनता से पूरी तौर पर छुटकारा नहीं दिला पाती। 'सामाजिक और सांस्कृतिक असमानताएँ जन-जीवन में लोकतान्त्रिक भावनाओं के विकास में बहुत बड़ी बाधा हैं। आर्थिक विषमताओं और संघर्षों का निराकरण करके ही लोकतन्त्र को स्वस्थ और सबल बनाया जा सकता है' 'समाज में लोकतान्त्रिक मूल्यों को प्रतिष्ठित किया जा सकता है। आर्थिक लोकतन्त्र द्वारा ही आर्थिक इजारादारी और राजनीतिक लोकतन्त्र की विषमता का ठीक तौर पर निराकरण हो सकता है।

इस तरह नरेन्द्रदेवजी की धारणा थी कि 'पूँजीवाद विकास की उस चरम सीमा को पहुँच गया है कि जहाँ वह उत्पादन की वृद्धि में रुकावट डालता है। पूँजीवादी प्रथा अपना काम समाप्त कर चुकी है। समाज की भावी उन्नति के लिये इस प्रथा का लोप आवश्यक है। पूँजीवाद की मर्यादित सीमा के भीतर उन्नति की अब कोई गुंजाइश नहीं है'। वे यह स्वीकार करते थे कि 'पूँजीवादी पद्धति की बुराइयां प्राचीन समाज में नहीं पायी जाती थीं'। पर उनके विचार में 'उनकी निज की बुराइयाँ कुछ कम नहीं थीं'। 'अतीत के पुनरुज्जीवन का प्रयत्न बालू से तेल निकालने के प्रयत्न की तरह सर्वथा विफल होगा', 'आज तक जो उन्नति हुई है उसको ताक पर रखकर नहीं, वरंच उसका उपयोग करके ही हमारा अभीष्ट सिद्ध होगा'। 'यदि हम मशीन युग की बुराइयों से बचना चाहते हैं तो उसका यह तरीका नहीं है कि हम पीछे कदम रखें और सारी औद्योगिक उन्नति को खात्म करके संसार की गरीबी और मुसीबत को बढ़ा दें'। 'जब छोटे से वर्ग का उत्पादन के साधनों पर स्वामीत्व नहीं रहेगा और वे सारे समाज की मिलकियत हो जायेंगे तब ही पूँजीवाद की आन्तरिक विषमता का निराकरण हो सकेगा'। वैज्ञानिक

समाजवाद को अपनाकर ही 'हम पूँजीवादी प्रथा के लाभ को सुरक्षित रखते हुए उसके दोषों को दूर कर सकेंगे'।

समाजवाद

आचार्य नरेन्द्रदेव की धारणा थी कि 'मनुष्य रोटी, शान्ति और स्वतन्त्रता तीनों चाहता है' और 'यह सब बातें सच्चे समाजवाद की स्थापना द्वारा ही प्राप्त हो सकती हैं'। उनका कहना था कि 'मानव-समाज का उद्धार सामाजिक शक्तियों के ऐसे नवीन संगठन द्वारा ही हो सकता है जो मनुष्य को उन साधनों का मालिक बनाये जो उसको जीवन प्रदान करते हैं'। उनके विचार में 'जब समाज के हित के लिये उद्योग-व्यवसाय का संगठन होगा और उत्पादन के सारे साधन व्यक्तियों की मिलकियत न होकर समाज की मिलकियत बन जायेंगे, तो समाज अपने साधनों के अनुसार जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये इतने परिमाग में वस्तुओं का उत्पादन करेगा कि समाज के प्रत्येक सदस्य को पूरी स्वतन्त्रता के साथ अपनी शक्तियों के विकास का अवसर मिलेगा। समाज के हाथ में जब उत्पन्न वस्तुओं का वितरण और विनिमय होगा, तो समाज में दरिद्रता और अशान्ति के स्थान में तुष्टि, पुष्टि और शान्ति विराजेगी'।

नरेन्द्रदेवजी इस बात को स्वीकार करते थे कि 'उत्पत्ति के साधनों को समाज के अधीन करने से अधिकारी वर्ग का प्रभुत्व बहुत बढ़ जाता है'। इसकी 'रोकथाम' वे आवश्यक समझते थे। उनके विचार में औद्योगिक लोकतन्त्र और व्यवसायों की यथासम्भव विकेन्द्रित व्यवस्था ही नौकरशाही के प्रभुत्व की बुराइयों का निराकरण है। उनका कहना था कि ऐसे नियम काम में लाये जायँ जिससे समाजीकृत उद्योगों पर 'जनता का...नियन्त्रण रहे', उनके प्रबन्ध में 'राज्य के अतिरिक्त मजदूरों का काफी हाथ' रहे। उनका यह भी विचार था कि 'स्वायत्त-शासन की संस्थाओं द्वारा भी कुछ व्यवसायों का सञ्चालन हो सकता है'।

नरेन्द्रदेवजी खेती के व्यवसाय को राजकीय उद्योग में बदलने के पक्ष में नहीं थे। वे सोवियत रूस में प्रचलित सामूहिक खेती के भी 'विरुद्ध' थे। वे चाहते थे कि समूचे गाँव के लोग मिलकर सहकारी

कृषि की प्रथा को अपनायें, सबकी जमीन एक साथ जोती बोई जाय, फसल के काटने के वक्त श्रम और क्षेत्रफल के हिसाब से पैदावार बाँट ली जाय। वे जानते थे कि 'गाँव वाले सरलता से सहकारिता को नहीं अपना लेंगे और हमें समझा बुझाकर प्रचार और प्रोत्साहन द्वारा उन्हें इसकी उपयोगिता पर विश्वास दिलाना होगा'। नरेन्द्रदेवजी सहकारिता को ही ग्रामीण आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था का मुख्य उपकरण बनाना चाहते थे। उनके विचार में 'सहयोग ही ग्राम-जीवन का आधार' है', ग्रामीण जनता 'सहयोग से उत्पादन करे और सहयोग से ही अपने उत्पादन का क्रय-विक्रय करे' तथा 'सहयोग द्वारा देहातों में लोकतन्त्रात्मक चाल-ढाल, रहन-सहन...तथा लोकतन्त्र की परम्परा' प्रतिष्ठित एवं स्थापित की जायें।

इस तरह नरेन्द्रदेवजी के विचार में समाजवाद 'मौजूदा समाज की प्राचीन दासता, विषमता और असहिष्णुता को सदा के लिये दूर करके' एक ऐसे समाज की स्थापना करना चाहता है जा 'शोषणमुक्त' हो, जिसमें 'परस्पर विरोधी शोषक और शोषित आर्थिक वर्ग मिट जायं', जो 'सहयोग के आधार पर संगठित व्यक्तियों का सच्चा लोकतन्त्र बने', ऐसा 'समूह' बन जाय जिसमें 'एक व्यक्ति की उन्नति का अर्थ स्वभावतः दूसरे सदस्य की उन्नति हो और सब मिलकर परस्पर उन्नति करते हुए जीवन व्यतीत कर सकें' और 'समता स्वतन्त्रता और भ्रातृत्व की स्थापना हो'। आचार्य नरेन्द्रदेव का कहना था कि समाजवाद एक ऐसा सिद्धान्त है जो 'मानव व्यक्तित्व के स्वतन्त्र विकास पर उतना ही जोर देता है जितना आर्थिक स्वतन्त्रता पर' जो 'मनुष्य को विवशता के क्षेत्र से ऊपर उठाकर उसे स्वाधीनता के राज्य में ले जाता है', जो चाहता है कि 'मनुष्य अपनी असमर्थता से ऊपर उठकर 'सामाजिक विकास का नियन्त्रण कर सके'। इस तरह आचार्य नरेन्द्रदेव की धारणा थी कि 'समाजवाद एक स्वतन्त्र सुखी समाज में सम्पूर्ण स्वतन्त्र मनुष्यत्व को प्रतिष्ठित कर सकता है'। उनकी धारणा थी कि 'मानवता ही समाजवाद का आधार है' तथा 'समाजवाद ही श्रेणीविहीन नैतिकता तथा सामाजिक न्याय की स्थापना कर सकता है' एवं 'स्वतन्त्रता, समता और भ्रातृत्व के आधार पर एक सुन्दर, सबल मानव संस्कृति की सृष्टि कर सकता है' और व्यक्तित्व के

पूर्ण विकास को 'सम्भव बना सकता है। आचार्य नरेन्द्रदेव स्वीकार करते थे कि 'समाजवादी समाज में भी समाज के सदस्यों में शारीरिक और मानसिक अन्तर रहेगा ही' तथा 'जब तक समाज का अस्तित्व मौजूद है, समाज के भीतर विभिन्न कार्यों को सुचारु रूप से चलाने के लिये श्रमविभाजन मौजूद रहेगा और फलस्वरूप अनेक पेशे भी रहेंगे'। इसलिये समाजवादी समाज में पूर्ण एकरूपता तथा 'पूर्ण समता लाने का वायदा नहीं किया जा सकता'। समाजवाद तो कृत्रिम असमानताओं को दूर कर 'सबको अवसर की समानता' प्रदान करना चाहता है, वह समता के नाम पर स्वतन्त्रता को न्योछावर नहीं करना चाहता, वह तो समता और स्वतन्त्रता के समुचित समन्वय का ही समर्थन करता है।

जनतन्त्र

आचार्य नरेन्द्रदेव समाजवाद के साथ साथ जनतन्त्र को भी नवीन युग की पुकार मानते थे। वे दोनों के समर्थक थे, दोनों के घनिष्ट पारस्परिक सम्बन्ध पर जोर देते थे और उनका समुचित सामञ्जस्य स्वाभाविक तथा समाज की प्रगति के लिये आवश्यक समझते थे।

नरेन्द्रदेवजी लोकतान्त्रिक शासन-व्यवस्था को सर्वोत्तम शासन-व्यवस्था मानते थे तथा राज-शाही और सामन्तशाही के साथ-साथ हर प्रकार की साम्राज्यशाही और अधिनायकतन्त्र का विरोध विश्वशान्ति और मानव स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये आवश्यकता समझते थे। 'गुलामी, चाहे वह वैयक्तिक हो या राष्ट्रीय, जीवन के क्षेत्र को वहुत संकुचित कर देती है', गुलामी की अवस्था में जीवन का विकास अवरुद्ध हो जाता है', 'व्यक्ति और राष्ट्र मृत्यु की ओर चलने लगते हैं'। वे अमरीका के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ स्वर्गीय वेंडल बिल्की के इस विचार से सहमत थे कि 'स्वतन्त्रता अविभाज्य है और समान रूप से सबकी स्वतन्त्रता स्वीकार करके ही मानव स्वतन्त्र हो सकता है। संसार के सब भाग एक दूसरे से सम्बद्ध हैं और कोई राष्ट्र अकेले पूर्ण स्वतन्त्रता, शान्ति या विकास को प्राप्त नहीं कर सकता'। परतन्त्रता के विरुद्ध संघर्ष मानव का स्वभाव और कर्तव्य दोनों ही हैं।

नरेन्द्रदेवजी के विचार में मानव स्वतन्त्रता की समुचित रक्षा और अभिवृद्धि जनतान्त्रिक शासन-व्यवस्था में ही सम्भव हैं। राजाशाही

और सामन्तशाही में जनसाधारण को किसी एक विशिष्ट व्यक्ति या समुदाय का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ता है। 'अधिनायकतन्त्र आतंक पैदा करता है, मनुष्य को राज्य की मशीन का एक पुर्जा बना देता है और व्यक्तित्व के विकास का अवसर नहीं देता'। सुव्यवस्थित जनतन्त्र में ही बहुजन समाज अपने भाग्य का विधाता, अपने राष्ट्र का निर्माता बन सकता है, स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है, अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है।

नरेन्द्रदेवजी जनतान्त्रिक शासन व्यवस्था को पूँजीवादी युग की एक बड़ी देन स्वीकार करते थे। पर मुक्त व्यापार के सिद्धान्त को वे जनतन्त्र का अनिवार्य अंग नहीं मानते थे। मानव-श्रम के आदर को वे मानव-व्यक्तित्व के आदर का अविच्छिन्न अंग समझते थे। श्रम के गौरव का समुचित संरक्षण वे मानव की स्वतन्त्रता और गौरव के संरक्षण और अभिवृद्धि के लिये आवश्यक समझते थे। पर निजी सम्पत्ति के अधिकार की अखण्डता को वे स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। समाजहित की पुष्टि के निमित्त निजी सम्पत्ति की व्यवस्था के नियंत्रण को तथा बड़े-बड़े उद्योगों के समाजीकरण को वे जनतान्त्रिक स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं मानते थे। नरेन्द्रदेवजी का कहना था कि पूँजीवादी व्यवस्था में मुक्त व्यापार की सुविधा मुट्ठी पर पूँजीपतियों को ही प्राप्त है और उसका क्षेत्र निरन्तर सीमित होता जा रहा है, बहुसंख्यक मजदूरों को तो छोटे से समुदाय के आधिपत्य में ही काम करना पड़ता है। उनकी धारणा थी कि पूँजीपतियों की औद्योगिक व्यवस्था की तुलना में मजदूरों को औद्योगिक जनतन्त्र के जरिये ही जनतान्त्रिक प्रणाली को व्यापक बनाया जा सकता है, बहुसंख्यक मजदूरों को पूँजीपतियों के जनतन्त्र-विरोधी अधिकारों से मुक्त करा के उनके जनतान्त्रिक अधिकारों को वास्तविक बनाया जा सकता है, उनकी आर्थिक स्वतन्त्रता को पुष्ट किया जा सकता है, उनके जीवन-स्तर को ऊँचा और उनके दैनिक जीवन को अधिक समाज-उपयोगी बनाया जा सकता है। नरेन्द्रदेवजी का कहना था कि 'राजनीतिक स्वतन्त्रता मानव को स्वतन्त्र नहीं करती। मानव तो तभी स्वतन्त्र होगा कि जब उसका जीवन खण्डित न हो, जब उसके जीवन के बौद्धिक और भौतिक अवयव उससे अलग न कर लिये जायँ, जब कि वह एक सामाजिक

जीव होकर अपनी जिन्दगी बसर करे और अपना काम-काज देखे और जब सब मनुष्य अपनी प्राकृतिक शक्तियों को ठीक तरह संगठित करें, सामाजिक शक्ति को राजनीतिक शक्ति के रूप में अपने से अलहृदा न करें'।

इस तरह नरेन्द्रदेवजी समाजवाद द्वारा प्रतिपादित सामाजिक स्वतन्त्रता, सामाजिक समता, सामाजिक न्याय और सामाजिक जनतन्त्र के समर्थक थे। उनके विचार में एकमात्र राजनीतिक स्वतन्त्रता और राजनीतिक जनतन्त्र अपूर्ण है। वह जनतन्त्र अधूरा है जो राजनीतिक क्षेत्र में सीमित है जो 'समाज की आर्थिक विषमता को दूर करने में असमर्थ है'। उनके विचार में 'लोकतन्त्र केवल एक शासन पद्धति नहीं है बल्कि वह एक जीवन-प्रणाली है'। अतः 'लोकतान्त्रिक आदर्शों को केवल राजनीतिक क्षेत्र तक सीमित नहीं रखा जा सकता, मनुष्य के प्रत्येक क्षेत्र में उनको प्रतिष्ठित करना आवश्यक है'। वे लोकतन्त्र को प्रतिष्ठित करने के लिये जनता में 'लोकतान्त्रिक आदर्शों के प्रति सुदृढ़ आस्था आवश्यक' समझते थे और जनजीवन को लोकतान्त्रिक भावनाओं से अनुप्राणित करने के लिये 'अमानुषिक' आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक असमानताओं से संघर्ष कर उनको दूर करने की आवश्यकता स्वीकार करते थे। उनके विचार में समाज और जीवन में लोकतान्त्रिक आदर्शों का पूर्ण विकास और अभिव्यक्ति समाजवादी व्यवस्था में ही सम्भव है। 'समाजवाद ही सच्चे माने में लोकतन्त्र की स्थापना कर सकता है'। 'समाजवाद ही पूर्ण लोकतन्त्र है'। लोकतन्त्र तो समाजवाद का प्राण ही है। लोकतन्त्र की भावना और आदर्श समाजवाद में निहित हैं। जहां समाजवाद के बिना लोकतन्त्र अपूर्ण है, वहां लोकतन्त्र के बिना समाजवाद असम्भव है।

आचार्य नरेन्द्रदेव के विचार में मार्क्स लोकतन्त्र का समर्थक था। उसने जिस अधिनायकत्व की कल्पना की थी वह अल्पकालीन था और वह बहुसमुदाय का अल्प समुदाय पर अधिनायकत्व था। मार्क्स का लक्ष्य तो 'एक ऐसे वर्गहीन समाज की स्थापना था कि जिसमें सब लोग सब प्रकार के शोषण और अधिपत्य से मुक्त किसी बाहरी नियन्त्रण या राज्य दण्ड के भय के बिना सहयोग की भावना से प्रेरित हो स्वतः समाज का सञ्चालन करें। यह तो जनतन्त्र का चरम विकास ही है'।

आचार्य नरेन्द्रदेव के विचार में 'लोकतन्त्र की जड़ें जनता में हैं'। सजग और शक्तिसम्पन्न जनता ही लोकतन्त्र का मुख्य आधार है। बालिग मताधिकार का 'क्रान्तिकारी सिद्धान्त' ही 'जनतन्त्र की आधार-शिला है'। जनता के सुशिक्षित और सुसंस्कृत बनाने का महान् उद्योग ही 'लोकतन्त्र की स्थापना में सच्चा सहायक हो सकता है'। 'सार्वभौमिक शिक्षा के बिना लोकतन्त्र का निर्माण सम्भव नहीं'। नरेन्द्रदेवजी का कहना था कि 'जनतन्त्र का अर्थ सामान्य जन के प्रति आदर और उसकी राष्ट्रीय विधायक शक्ति में विश्वास है'। जनता की क्षमता और विधायक शक्ति ही लोकतन्त्र की क्षमता और सफलता का मूल स्रोत है। अतः 'जनता जनार्दन की शिक्षा हमारा प्रधान कर्तव्य है'। उसे ऐसी शिक्षा प्रदान करना है कि जिससे लोकतान्त्रिक चरित्र का निर्माण हो सके, उसके अन्दर 'विवेचनात्मक शक्ति का विकास हो', वह 'विभिन्न प्रकार की विचारधाराओं को भलीभांति समझ सके, उसमें 'आत्मनिर्णय की क्षमता' आ सके। उन्हें यह 'विश्वास' हो जाय कि 'राज्य उनकी मान-महत्ता को स्वीकार करता है और शासन-व्यवस्था के वे स्वयं एक मुख्य अवयव हैं'।

नरेन्द्रदेवजी की धारणा थी कि 'स्वस्थ रचनात्मक विरोधी दल के अभाव में' 'शासन निरंकुश और भ्रष्ट हो जाता है', 'अधिनायकत्व की मनोवृत्ति का पनपना सुगम' हो जाता है। उनका तो कहना था कि 'अगर आप विरोधी दल की आवश्यकता से इनकार करते हैं तो इसका मतलब यह है कि आप निरंकुश शासन का समर्थन करते हैं'। स्वस्थ विरोध के लिये वे धर्मनिरपेक्ष रचनात्मक दृष्टिकोण आवश्यक समझते थे। सरकार की एकमात्र ध्वंसात्मक आलोचना वे निरर्थक समझते थे। वे तो एक ऐसा विरोधी दल चाहते थे कि 'जो राज्य को किसी धर्म विशेष से सम्बद्ध करना न चाहता हो' और 'जिसकी आलोचना रचना और निर्माण के हित में हो न कि ध्वंस के लिये'। उनका कहना था कि 'सरकार की सम्पूर्ण भर्त्सना एक ऐसा खेल है जिसे हम अब खेल नहीं सकते। उससे कुछ काम नहीं होगा। सरकार की स्कीमों और कामों का आलोचनात्मक अध्ययन ही हमें ऐसी बुद्धिसंगत समीक्षा के योग्य बनायेगा जिसका असर सरकार और जनता दोनों पर पड़ सकेगा'। जनतान्त्रिक सिद्धान्तों और परम्पराओं की पुष्टि और जनतान्त्रिक

संसदीय प्रक्रियाओं का पालन भी वे एक जनतान्त्रिक विरोधी दल का कर्तव्य समझते थे।

कम्यूनिस्ट वर्ग-समाजों की राजनीतिक व्यवस्थाओं में विरोधी दल तथा बहुदलीय प्रणाली के औचित्य को स्वीकार करते हैं। पर उनके विचार में वर्गहीन समाज में बहुत से दलों के अस्तित्व का कोई औचित्य नहीं। उनका कहना है कि बहुत से वर्गों में विभाजित समाज में विभिन्न वर्गों के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले दल हो सकते हैं, पर वर्गहीन समाज में वर्ग-हितों के संघर्ष के अभाव में एक से अधिक दल का कोई कारण नहीं है। आचार्य नरेन्द्रदेव कम्यूनिस्टों की इस दलील से सहमत नहीं थे। वे समाजवादी समाज में बहुदलीय व्यवस्था के औचित्य को स्वीकार करते थे। उनका कहना था कि समाजवादी समाज में भी नीति-रीति के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है और इस मतभेद के आधार पर विभिन्न दलों की सृष्टि हो सकती है। उनका यह भी कहना था कि स्वस्थ जनतन्त्र के लिये विचारों और सिद्धान्तों का संघर्ष, अतः विभिन्न राजनीतिक पार्टियाँ जरूरी हैं। एक दलीय राजनीतिक व्यवस्था तो निरंकुशता और अधिनायकत्व को पुष्ट करती है, नागरिकों को सरकार की नीति-रीति के विरुद्ध एक संगठित विकल्प के रूप में अपना मत प्रकट करने का अवसर नहीं देती। आचार्य नरेन्द्रदेव की धारणा थी कि मार्क्स और एंगिल्स तो सन् १८७० में संगठित पेरिस कम्यून को मजदूरों के अधिनायकत्व की मान्यता प्रदान करते थे जिसमें कई दल श्रमिकों के हितों और विचारों का प्रतिनिधित्व करते थे।

आचार्य नरेन्द्रदेव जनतान्त्रिक समाजवाद की स्थापना के लिये 'पार्लियामेन्टरी काम, संघर्ष और रचनात्मक काम सभी आवश्यक' समझते थे। उनका विचार था कि 'अन्याय के विरुद्ध संघर्ष.... जनता में नयी जागृति पैदा करेंगे और इनमें आत्म-त्याग और भाईचारे के सद्गुणों का संचार करेंगे। ये उन्हें क्रियाशील बनायेंगे, शक्तियों को संगठित करेंगे और आत्मविश्वास को प्रोत्साहित करेंगे'। यह संघर्ष अवश्य सामाजिक क्रान्ति के महत्त्वपूर्ण उपकरण हैं। पर 'राष्ट्रव्यापी संघर्ष अपनी इच्छानुकूल जब चाहे शुरू नहीं किया जा

सकता' और 'क्रान्ति नित्य नहीं होती' तथा 'सुधारवादी समझा जाने वाला काम भी क्रान्ति का आधार बनता है'। अतः वे चाहते थे कि सोशलिस्ट कार्यकर्ता 'सामाजिक व्यवस्था का पूर्ण परिचय प्राप्त कर रचनात्मक क्रान्तिकारी योजनाओं को कार्यान्वित' करने के काम में जुट जायें। उनके विचार में 'यदि हम जनता के समक्ष निःस्वार्थ और रचनात्मक कार्यों द्वारा समाजवादी नीति को कार्यान्वित करने के लिये अपनी सच्चाई और योग्यता का प्रमाण पेश कर सके तो हम उनमें नया जीवन डाल सकते हैं और एक नया विश्वास उत्पन्न कर सकते हैं'।

७. मार्क्सवाद

मार्क्सवादी धारणाएँ

आचार्य नरेन्द्रदेव मार्क्सवादी थे। वे मार्क्स और एंगिल्स के सामाजिक विश्लेषण और सामाजिक विकास की प्रक्रिया को मूलतः स्वीकार करते थे। पर वे मार्क्सवाद के भौतिक तत्त्वों के साथ-साथ उसके मानवीय तत्त्वों पर भी जोर देते थे। वे मार्क्सवाद के इस सिद्धान्त को मानते थे कि 'उत्पादक शक्तियों के विकास के अनुरूप सम्बन्ध कायम होते हैं, उत्पादक सम्बन्धों को जोड़कर समाज का आर्थिक ढाँचा बनता है और आर्थिक ढाँचे के आधार पर राजनीतिक और सांस्कृतिक ढाँचे की दीवार खड़ी होती है'। वे मार्क्स के इस सिद्धान्त को भी मानते थे कि 'किसी विशेष परिस्थिति में किसी विशेष प्रकार के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले महापुरुष स्वयं बदली हुई परिस्थितियों के परिणाम होते हैं और उनका सिद्धान्त भी समाज में इसलिये स्वीकार किया जाता है कि वह नयी परिस्थिति के अनुकूल होता है'। वे यह भी स्वीकार करते थे कि 'किसी समाज की विचार-प्रणालियों में अर्थात् प्रचलित दर्शन, धर्म, राजनीति आदि में उस समय आधारभूत परिवर्तन होता है जबकि समाज की रचना में आधारभूत परिवर्तन होता है'। पर वे मार्क्सवाद की इन बातों पर भी जोर देते थे कि 'मनुष्य और परिस्थिति दोनों परिवर्तनशील और अस्थिर हैं', 'जिस प्रकार मनुष्य परिस्थितियों को बनाता है, उसी प्रकार परिस्थितियाँ मनुष्य को बनाती हैं,' और 'कानूनी और राजनीतिक संस्थाएँ, आर्थिक ढाँचे का परिणाम होते हुए भी, स्वतन्त्र शक्तियाँ बन जाती हैं और इतिहास की गतिविधि को प्रभावित करती हैं'। इस तरह आचार्यजी की राय में 'ऐतिहासिक विकास में अनेक कारण काम करते हैं' और नयी सामाजिक व्यवस्था को कायम करने के लिये अनुकूल सामाजिक परिस्थिति और प्रगति के साथ साथ मनुष्यों का सचेष्ट प्रयत्न भी जरूरी होता है। वह लेनिन की इस बात को ठीक समझते थे कि क्रान्ति के लिये क्रान्तिकारी परिस्थिति और क्रान्तिकारी प्रयत्न दोनों ही आवश्यक हैं। उनकी धारणा थी कि 'क्रान्ति स्वतः

सफल नहीं होती....क्रान्ति का संगठन सुदृढ़ होने से ही और क्रान्ति के संचालकों की दृष्टि स्पष्ट तथा रचनात्मक होने से ही क्रान्ति सफल होती है'। वे स्वीकार करते थे कि 'पुरानी आर्थिक प्रणाली को नाश करके उसके स्थान पर एक नयी आर्थिक प्रणाली कायम करना एक ऐसी घटना है जोकि मामूली सुधारवाद के रास्ते से नहीं हो सकती। समाज के ढाँचे में आधारभूत परिवर्तन की ऐतिहासिक आवश्यकता क्रान्ति द्वारा ही पूर्ण हो सकती है'। पर वे सुधार को क्रान्ति का आवश्यक अंग समझते थे और नये समाजवादी समाज के निर्माण के लिये संघर्ष के साथ-साथ क्रान्तिकारी रचनात्मक कार्य भी जरूरी समझते थे।

वर्ग-संघर्ष

वे मार्क्सवाद के वर्गीय विश्लेषण को मूलतः स्वीकार करते थे और वर्गविहीन समाज को कायम करने के लिये वर्ग-संघर्ष अनिवार्य समझते थे। वे वर्ग-सहयोग के अस्तित्व को भी स्वीकार करते थे और मानते थे कि विभिन्न वर्गों के हितों में संघर्ष होते हुए भी समाज के अस्तित्व के लिये किसी हद तक वर्ग-सहयोग अनिवार्य है। इसके बिना तो 'समाज छिन्न भिन्न हो जायगा'। पर वे वर्ग-संघर्ष को वर्गसमाज का अनिवार्य घटनाक्रम मानते थे। उनका कहना था कि वर्ग-संगठन और वर्ग-संघर्ष द्वारा ही शोषित वर्ग शोषण और आधिपत्य से छुटकारा पा सकता है और ऐसे समाज का निर्माण कर सकता है जिसमें वह शान्ति और समृद्धि का जीवन बिता सके। इस तरह शोषितों का वर्ग-संघर्ष सामाजिक क्रान्ति का मुख्य उपकरण तथा समाजवादी वर्गविहीन समाज की स्थापना का आवश्यक साधन है।

शोषितों के वर्ग-संघर्ष का समर्थन करते हुए नरेन्द्रदेवजी कहते थे कि 'वर्ग-संघर्ष ही सामाजिक क्रान्ति का आधार रहा है। समाजवादी लोग वर्ग-संघर्ष को पैदा नहीं करते और न वे उसको पसन्द ही करते हैं। उनका उद्देश्य तो...समाज का ऐसा संगठन करना है जिसमें परस्पर विरोधी वर्गों और उनमें निरन्तर चलने वाले संघर्षों का अन्त हो जाय'। पर चूँकि वर्ग-संघर्ष के बिना शोषण और आधिपत्य से छुटकारा मिलना सम्भव नहीं है और वर्ग-संघर्ष द्वारा ही समाज का विकास हुआ है, इसलिये सोशलिस्टों को वग-संघर्ष के लिये शोषित वर्गों को सचेत और संगठित करना पड़ता है और उनमें ऐसी चेतना पैदा

करनी होती है कि शोषित वर्गों की लड़ाई आर्थिक न रहकर राजनीतिक बन जाय।

इस तरह नरेन्द्रदेवजी मार्क्स की इस बात को तसलीम करते थे कि वर्ग-संघर्ष आर्थिक और राजनीतिक दोनों ही है। वे यह भी तसलीम करते थे कि पूँजीवादी युग में कल-कारखानों का मजदूर ही मुख्य क्रान्तिकारी वर्ग है। 'समाजवादी क्रान्ति का वही अग्रणी है'। उसका संगठन तथा उसकी चेतना और क्षमता समाजवादी क्रान्ति का मूल आधार है।

मध्यम श्रेणी के शिक्षित

पर लेनिन की तरह वे इस बात पर भी जोर देते थे कि केवल मजदूरों के बलबूते पर समाजवादी क्रान्ति सम्भव नहीं, उसके लिये तो मध्यम श्रेणी के शिक्षितों का क्रान्तिकारी समाजवादी नेतृत्व भी आवश्यक है। नरेन्द्रदेवजी का कहना था कि मार्क्सवादियों के अनुसार क्रान्तिकारी सिद्धान्त के विना क्रान्तिकारी आन्दोलन नहीं हो सकता और समाजवाद के दर्शन की सृष्टि तथा उसका विकास विद्वानों और चिन्तकों द्वारा ही होता है। आने वाले समाज की भविष्यवाणी उनके द्वारा ही होती है। इस तरह निम्न मध्यमवर्गीय क्रान्तिकारी विचारक ही समाजवादी क्रान्ति के आध्यात्मिक साधन हैं।

किसान

किसानों के सम्बन्ध में अधिकांश मार्क्सवादी नेताओं की धारणाएं आचार्यजी को मान्य नहीं थीं। उनके विचार में किसी वर्ग की क्रान्तिकारिता उसकी आर्थिक और सामाजिक स्थिति पर निर्भर होती है। साम्राज्यशाही तथा आर्थिक दासता से त्रसित एशिया का किसान परिस्थितिवश मूलतः क्रान्तिकारी है। उनकी क्रान्तिकारी आवश्यकताओं के आधार पर उनकी क्रान्तिकारी भावनाओं को जागृत और पुष्ट किया जा सकता है। उनकी धारणा थी कि एशिया में समाजवादी क्रान्ति की विजय के लिये आवश्यक है कि किसानों को संकीर्ण किसानवाद की बुराइयों को बताते हुए उन्हें समाजवाद का ऐतिहासिक महत्त्व समझाया जाय, उनके आर्थिक संघर्षों को समाजवादी संघर्षों से सम्बन्धित कर उन्हें समाजवादी क्रान्ति के प्रयत्नों में शामिल किया जाय तथा सहकारी संस्थाओं के माध्यम से उन्हें

समाजवादी निर्माण कार्य में लगाया जाय। इस सम्बन्ध में उनके विचार बहुत हद तक एंगिल्स के विचारों से मिलते जुलते थे जो छोटे किसानों को उनके हितों की रक्षा का विश्वास दिला कर उनकी क्रान्तिकारी भावनाओं को जागृत कर उन्हें समाजवादी क्रान्ति में शामिल करना चाहते थे।

दो युगों का कार्य

आचार्यजी का मत था कि भारत जैसे देश में समाजवादियों को एक साथ दो युगों का काम करना है। उन्हें कृषिक्रान्ति और समाजवादी क्रान्ति दोनों को सम्पन्न कर सामन्तशाही और पूंजीवाद दोनों को खत्म कर जनतन्त्र और समाजवाद दोनों को प्रतिष्ठित कर शोषणविहीन समाज कायम करना है। इस काम के लिये क्रान्तिकारी शिक्षितों के साथ-साथ श्रमिकों और किसानों दोनों के क्रान्तिकारी सहयोग की जरूरत है।

क्रान्ति का लक्ष्य

आचार्य नरेन्द्रदेव के विचार में 'जहां समाज में मौलिक परिवर्तन होना और राज्यशक्ति का एक वर्ग के हाथ से निकल कर दूसरे वर्ग के हाथ में जाना ही क्रान्ति है', वहां ऐसे वर्ग-विहीन समाज की रचना करना, जिसमें 'न कोई शासक है और न कोई शासित', सामाजिक क्रान्ति का लक्ष्य है।

लेनिन की तरह आचार्य नरेन्द्रदेव भी आतंक और षड्यन्त्र को क्रान्ति का अंग नहीं मानते थे। वे जनतान्त्रिक उपायों के अभाव में क्रान्ति के लिये संगठित सशस्त्र संघर्ष का समर्थन करते थे, पर हर परिस्थिति में सशस्त्र क्रान्ति को आवश्यक और लाभप्रद नहीं समझते थे। एंगिल्स की तरह आचार्यजी भी बालिग मताधिकार को 'क्रान्तिकारी सिद्धान्त' मानते थे, सामाजिक विकास की ओर एक 'क्रान्तिकारी कदम' समझते थे। वह एंगिल्स की इस बात से सहमत थे कि बालिग मताधिकार पर आधारित जनतन्त्र में जनतान्त्रिक ढंग से सामाजिक क्रान्ति को आगे बढ़ाया जा सकता है। बहुत-से नए हथियारों के आविष्कार से सरकारी पक्ष की फौजी ताकत बहुत बढ़ गयी है और उसके विरुद्ध सशस्त्र विप्लव कठिन हो गया है तथा जनतन्त्र में

जनतान्त्रिक उपायों से आगे बढ़ने की बजाय विप्लव का नारा लगाना हिमाकत होगी, शासक वर्गों के हाथ में खेलना होगा।

आचार्यजी की धारणा थी कि इस देश में समाजवादियों का कर्तव्य है कि वे जनतन्त्र-विरोधी भावनाओं और शक्तियों से जनतन्त्र की रक्षा करें, जनतान्त्रिक सिद्धान्तों के प्रति जनता की श्रद्धा को दृढ़ करें, राजनीतिक जनतन्त्र को सवल बनायें, और जनतान्त्रिक ढंग से समाजवादी क्रान्ति को सफल करें, समाजवादी समाज स्थापित करें।

सत्याग्रह

आचार्यजी जनतान्त्रिक उपायों में शान्तिमय हड़तालों और सत्याग्रह जैसे संघर्षों को भी शामिल करते थे। सत्याग्रह के सम्बन्ध में आचार्य नरेन्द्रदेव और महात्मा गान्धी दोनों में कुछ मौलिक मतभेद था। जहां महात्मा गान्धी सत्याग्रह को विरोधी के हृदय परिवर्तन का उपाय समझते थे, वहां आचार्य नरेन्द्रदेव सत्याग्रह को जन-संघर्ष का एक शान्तिमय ढंग समझते थे। जहां कांग्रेसी सरकारों के पोषक बहुत-से गान्धीवादियों का विचार है कि स्वराज्य में सत्याग्रह का कोई स्थान नहीं, वहाँ आचार्य नरेन्द्रदेव का कहना था कि जब गान्धीजी स्वराज्य में सत्याग्रह को समाजवादी समाज कायम करने का और अन्याय के प्रतिकार का उचित उपाय समझते थे, तब उसे शोषित अपने शोषण के निवारण के लिये भी जरूर प्रयोग कर सकते हैं और इस सम्बन्ध में गान्धीवादियों का विरोध अनुचित है। नरेन्द्रदेवजी की धारणा थी कि सत्याग्रह को वर्ग-संघर्ष या क्रान्ति का एक उपकरण स्वीकार कर लेने से 'मार्क्सवाद के किसी सिद्धान्त को कोई हानि नहीं पहुँचती'। उनका कहना था कि जहाँ मार्क्स के लिये सब प्रभावशाली उपायों का विश्लेषण करना असम्भव था वहाँ देशकाल के अनुसार कार्यक्रम में विभिन्नता का होना अनिवार्य है। देश-विशेष में कभी-कभी ऐसी संस्थाएँ जन्म लेती हैं जिनकी प्रतिष्ठा तथा गौरव सबको आकृष्ट करता है और जिनका प्रयोग देश-विशेष के अनुभव के अनुकूल होता है। आचार्यजी के विचार में सत्याग्रह को अपनाने से गान्धीवाद और मार्क्सवाद का समन्वय नहीं होता।

मानवता

आचार्यजी मार्क्सवाद के नैतिक और सांस्कृतिक तत्त्वों पर विशेष जोर देते थे। वे समाजवाद को एक बड़ा नैतिक और सांस्कृतिक आन्दोलन समझते थे। आचार्य नरेन्द्रदेव मार्क्स को 'अपने युग का महान् मानवतावादी' मानते थे और उनके विचार में 'मार्क्स की विचार सरिणी का मुख्य विषय मानव था'। नरेन्द्रदेवजी का कहना था कि 'जिस प्रकार भूकम्प मापक यन्त्र पृथ्वी के सूक्ष्म से सूक्ष्म कम्पन का भी हिसाब रखता है उसी तरह मार्क्स मनुष्य के साधारण से साधारण कष्ट का हिसाब रखता था' और 'समाज के इस अन्याय को बर्दाश्त नहीं कर सकता था कि एक वर्ग के लोग सम्पन्न और सुसंस्कृत हों और दूसरे गुलामों की तरह रात-दिन मेहनत करने पर भी जिन्दगी की साधारण आवश्यकता से वंचित रखे जायँ'। नरेन्द्रदेवजी की धारणा थी कि समाजवादी सांस्कृतिक आन्दोलन का केन्द्र मानव है। 'मानव सर्वोपरि है'। 'जो सिद्धान्त, वाद या विचार—चाहे वह कोई धर्म हो या दर्शन या अर्थशास्त्र—मानव के उत्कर्ष को घटाता है, वह मार्क्स को मान्य नहीं है'।

मार्क्सवाद और नैतिकता

वे मार्क्स और एंगिल्स से सहमत थे कि 'वर्ग-समाज में मानवीय प्रेरणाओं का विकास अवरुद्ध हो जाता है और वर्ग-विहीन समाजवादी समाज में ही सच्ची मानवीयता सम्भव है'। एंगिल्स की तरह आचार्यजी भी यह तसलीम करते थे कि कुछ नैतिक नियम और आदर्श दीर्घकालीन होते हैं, पर वे यह भी मानते थे कि गतिशील और परिवर्तनशील संसार में सामाजिक परिवर्तनों के साथ नैतिक नियमों और सिद्धान्तों में भी तबदीली होती रहती है और नैतिक आदर्शों का सामाजिक आदर्शों से घनिष्ट सम्बन्ध है। उन्हें एंगिल्स का नैतिक विश्लेषण मूलतः स्वीकार था। उनकी तरह वे भी मानते थे कि सामाजिक व्यवस्था के साथ-साथ नैतिक संहिता भी बदलती है, वर्ग-समाज में शोषक और शोषितों के नैतिक आदर्शों में संघर्ष होता है, जहाँ शोषकवर्ग प्रचलित सामाजिक व्यवस्था की पोषक नैतिक व्यवस्था और धारणाओं का समर्थन करता है, वहाँ शोषित वर्ग और उसके

समर्थक विद्वान् क्रान्तिकारी नैतिकता को प्रतिपादित करते हैं, प्रचलित सामाजिक व्यवस्था और नैतिक पद्धतियों के आन्तरिक विरोधों की ओर ध्यान दिलाते हैं, वर्ग-समाज के सामाजिक और नैतिक नियमों की समीक्षा और आलोचना करते हैं और क्रान्ति के पक्ष में क्रान्तिकारी नैतिक तत्त्वों को प्रस्तुत करते हैं। आचार्यजी की राय थी कि वर्ग-विहीन समाजवादी समाज में ही नैतिक सिद्धान्तों के आन्तरिक विरोधों और संघर्षों का समाधान हो सकता है और सारे समाज को मान्य नैतिक व्यवस्था प्रतिष्ठित हो सकती है।

समाजवादी शील

रोज़ालक्ज़म्बर्ग की तरह आचार्यजी भी प्रत्येक क्रान्तिकारी के लिये मानवीय व्यवहार आवश्यक समझते थे। वे मानवता को समाजवाद का आधार मानते थे। मानवता से अनुप्राणित होना प्रत्येक समाजवादी कार्यकर्ता का कर्तव्य समझते थे। वे उनके लिये सामान्यशील, सौजन्य, शिष्टाचार और नैतिक नियमों का पालन करना जरूरी समझते थे। उनका कहना था कि समाजवादी आन्दोलन को ऐसे विद्याचरण-सम्पन्न कार्यकर्ताओं की जरूरत है कि जो समाजवाद को अपने जीवन का लक्ष्य बनाने को तैयार हों, जो अपने जीवन को जनता के जीवन से आत्मसात् करने को उद्यत हों और जो निष्काम सेवा के द्वारा प्राप्त उन्नयन और उमंग को ही उसका समुचित पुरस्कार समझें। वे चाहते थे कि प्रत्येक कार्यकर्ता अपने जीवन में 'ज्ञान की पिपासा, सत्य की आराधना, मौलिक सिद्धान्तों का स्पष्ट ज्ञान, नयी संस्कृति और नये समाज में निष्ठा, चरित्र की दृढ़ता और काम की लगन' आदि गुणों का पोषण करे।

वे तो शोषित वर्गों को भी समाजवादी मूल्यों और लक्ष्यों तथा समाजवादी व्यवस्था के प्रमुख सिद्धान्तों और प्रणालियों की जानकारी कराना तथा नैतिक व्यवहार में उन्हें दीक्षित करना जरूरी समझते थे। मजदूरों को सम्बोधित करते हुए नरेन्द्रदेवजी ने एक लेख में लिखा है कि 'नैतिक तथा आध्यात्मिक विशिष्ठता प्राप्त करने का प्रयत्न वर्ग-संघर्ष का अविच्छिन्न अंग है। समाजवाद की लड़ाई मजदूर वर्ग के नैतिक उत्कर्ष की अपेक्षा करती है। यदि हम नैतिक आधार पर पूँजीवाद को घृणित बताते हैं तो हमको एक नैतिक स्तर पर समाज को एक नई

दृष्टि देनी चाहिए'। वे मार्क्स से सहमत थे कि 'सर्वहारा मजदूरों को प्रतिदिन के भोजन की अपेक्षा आत्म-विश्वास, स्वाभिमान और स्वतन्त्रता की कहीं अधिक जरूरत है'।

कम्यूनिस्टों की समीक्षा

आचार्य नरेन्द्रदेव मार्क्सवादी होते हुए भी कम्यूनिस्ट नहीं थे। वे कम्यूनिस्टों की नीति-रीति, गतिविधि और अनैतिक व्यवहार से बड़े असन्तुष्ट थे। वे कम्यूनिस्टों की तानाशाही मनोवृत्ति तथा विचारों की कट्टरता और संकीर्णता के बड़े विरोधी थे। उनकी धारणा थी कि 'कम्यूनिस्ट पार्टी के व्यवहार, उसकी चालबाजियों और दो मुखी कार्यवाहियाँ, उसकी निरी अवसरवादिता और दूसरों से व्यवहार करने में नैतिकता की पूरी अवहेलना करने के कारण समाजवाद बदनाम हो गया है'। 'कम्यूनिस्ट पार्टी द्वारा सार्वभौमिक सत्य की एकमात्र सरपरस्ती का तथा वास्तविक समाजवाद के एकमात्र नेतृत्व का' दावा करना तथा दूसरी सभी समाजवादी विचारधाराओं, आन्दोलनों एवं संगठनों को समाजवाद का शत्रु और प्रतिक्रियावादी समझना, उनके साथ शत्रु जैसा व्यवहार करना' आचार्यजी को बहुत अखरता था। वह इस प्रकार के संकीर्णता को 'साम्प्रदायिकता' के नाम से सम्बोधित करते थे और उसे समाजवाद की प्रगति के लिये घातक समझते थे।

उनका विचार था कि स्तालिन के अधिनायकत्व में सोवियत रूस और अन्तर्राष्ट्रीय कम्यूनिज्म दोनों पथभ्रष्ट हो गये हैं। नरेन्द्रदेवजी रूस में प्रचलित तानाशाही और सर्वसत्तावाद (टोटीलिटेरियनिज्म) के कट्टर विरोधी थे। उनकी धारणा थी कि 'टोटीलिटेरियनिज्म' आतंक पैदा करता है और मनुष्य को राज्य की मशीन का पुर्जा बना देता है। वह मानव के मान को नष्ट करता है और व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास का अवसर नहीं देता। वह नये प्रकार का जुल्म और गुलामी स्थापित करता है जिसमें नागरिक की अपनी इच्छा नहीं होती और उसे राज्य के औजार का काम करना होता है।'

नरेन्द्रदेवजी स्तालिनशाही को मार्क्स द्वारा प्रतिपादित मजदूरों की तानाशाही मानने को तैयार नहीं थे। आचार्यजी के विचार में

सर्वहारा की तानाशाही की कल्पना मार्क्स ने उन देशों के लिये की थी जहाँ पर जनतान्त्रिक संस्थाएँ और प्रथाएँ घर नहीं कर पायीं थीं और जहाँ पर पूँजीपति वर्ग अपने विरोधी शक्तियों के खिलाफ तुरन्त राज्य की सारी सैनिक शक्ति को लाकर खड़ा कर सकता था। इस एकाधिपत्य की कल्पना थोड़े समय के लिये की गयी थी, और इसका स्वरूप मेहनतकशों का जनतान्त्रिक एकाधिपत्य था, न कि किसी एक पार्टी का आधिपत्य'। इसलिये आचार्यजी की राय में मार्क्स के सिद्धान्त के अनुकूल रूस की विशेष परिस्थिति में थोड़े समय के लिये रूस में सर्वहारा की तानाशाही कायम की जा सकती थी। पर उस तानाशाही को स्थायी बनाये रखना और उसे कम्यूनिस्ट पार्टी की तानाशाही में और आगे चलकर नेतृत्व की तानाशाही में बदल देना मार्क्स के सिद्धान्त के विरुद्ध है। इस तरह आचार्यजी स्तालिनशाही को मार्क्सवाद का पोषक के बजाय शत्रु समझते थे। वह किसानों की रजामन्दी के बगैर जबर्दस्ती उनके खेतों के समूहीकरण को गलत समझते थे और इस सम्बन्ध में लाखों किसानों के बध को बड़ा जुर्म समझते थे। अपने कम्यूनिस्ट साथियों के साथ स्तालिन का दुर्व्यवहार, आचार्यजी की राय में, स्तालिन का अक्षम्य अत्याचार था।

नरेन्द्रदेवजी समाजवादी और कम्यूनिस्ट शक्तियों के अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का समर्थन करने को तैयार थे। पर वे अन्तर्राष्ट्रीय कम्यूनिज्म के नाम पर सोवियत रूस को हिन्दुस्तान के मजदूरों की पितृभूमि मानना और संसार भर की कम्यूनिस्ट पार्टियों पर सोवियत रूस की कम्यूनिस्ट पार्टी का नेतृत्व लादना गलत समझते थे। वह समता के आधार पर स्वतन्त्र सहयोग को ही ठीक समझते थे।

हिन्दुस्तान की कम्यूनिस्ट पार्टी द्वारा सोवियत रूस और स्तालिनशाही का हर बात में समर्थन आचार्यजी को अखरता था। सोवियत रूस के हितों पर हिन्दुस्तान के हितों को न्योछावर करना, और रूसी नेताओं के इशारे पर भारतीय कम्यूनिस्टों द्वारा सन् १९३०-३२ के सविनय अवज्ञा आन्दोलन और सन् १९४२ में भारत छोड़ो संघर्ष का विरोध करना आचार्य जी की दृष्टि में देश और समाजवाद दोनों के प्रति गद्दारी थी। उनका निश्चित मत था कि स्वतन्त्र देश में ही समाजवादी समाज कायम किया जा सकता है और इसलिये हर

समाजवादी और मार्क्सवादी का कर्तव्य है कि वह दूसरी जनतान्त्रिक शक्तियों से मिलकर देश की आजादी के लिये संघर्ष करे और स्वतन्त्रता के संघर्षों में कोई बाधा उपस्थित न करें।

नरेन्द्रदेवजी का कहना था कि जनतन्त्र की पूँजीवादी कल्पना की कमियों को दिखाना कम्यूनिस्टों के लिये जरूरी था, लेकिन उदार परम्परा के प्रति आदर का भाव नष्ट करके उन्होंने बड़ी गलती की है। अपने प्रचार द्वारा उन्होंने 'जनतान्त्रिक संस्थाओं के प्रभाव को कम कर दिया। इस भारी भूल के कारण फासिज्म की वृद्धि हुई और फासिस्ट विचारधारा जिस तरह दुनियाँ में फैल गयी, उससे समाजवाद ही नहीं समस्त मानव की प्रगति खतरे में पड़ गयी'। समाजवादियों को 'जनतन्त्र और स्वतन्त्रता' में अपना विश्वास दृढ़ करना नितान्त आवश्यक है।

आचार्यजी का योगदान

इन सब बातों से यह साफ जाहिर है कि आचार्यजी मार्क्सवादी थे, पर उनका मार्क्सवाद रूसी कम्यूनिज्म और कट्टरता का सहचर नहीं था। वह हर दर्शन की तरह मार्क्सवादी दर्शन को भी विकासशील मानते थे और स्वयं उन्होंने उनके विकास में योगदान दिया था। एक तो उन्होंने उदात्त राष्ट्रीयता और समाजवाद के समन्वय पर जोर देकर, और उत्तरदायी व्यापक राष्ट्रीयता को समाजवाद का अंग बनाकर मार्क्सवाद की एक बड़ी समस्या का समाधान किया। दूसरे उन्होंने कृषिक्रान्ति और समाजवादी क्रान्ति के योग पर जोर देकर और समाजवादी क्रान्ति के लिये मजदूरों और किसानों के संयुक्त मोर्चों की जरूरत बताकर तथा समता के आधार पर किसानों और मजदूरों के पारस्परिक सम्बन्ध कायम करने का पाठ पढ़ा कर मार्क्सवाद की दूसरी बड़ी समस्या का समाधान किया। तीसरे, सहकारिता और समूहीकरण का मौलिक भेद बताकर और सहकारिता को समाजवादी व्यवस्था का अंग बनाकर, उसके आधार पर किसानों की स्वेच्छा द्वारा ग्रामीण आर्थिक व्यवस्था के निर्माण पर उन्होंने जोर दिया और इस तरह समूहीकरण के कारण समाजवाद के विरुद्ध किसानों के संघर्ष को शान्त करने का उन्होंने योग बताया। चौथे, उन्होंने जनतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण, औद्योगिक जनतन्त्र और अर्ध-स्वतन्त्र कारपोरेशनों द्वारा समाजी-

कृत उद्योगों की व्यवस्था के सिद्धान्तों का मार्क्सवाद में प्रवेश कर उसे व्यापक और जनतान्त्रिक रूप प्रदान किया और जनतान्त्रिक केन्द्रवाद के सर्वसत्तावाद और केन्द्रित नौकरवाद से उसकी रक्षा की। पाँचवें, जनतन्त्र और समाजवाद की असंगति की धारणा का विरोध करके, जनतन्त्र की प्रेरणा को मानव प्रकृति का अंग बताकर, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और मानवीय अधिकारों की प्रधानता स्वीकार करके, आर्थिक जनतन्त्र और राजनीतिक जनतन्त्र के सम्बन्ध को स्थापित करके, जनतन्त्र में विरोधी दल के महत्त्व को तसलीम करके, जनतान्त्रिक राज्य में जनतान्त्रिक भावनाओं को जागृत, सुदृढ़ और व्यापक बताते हुए जनतान्त्रिक उपायों से, जिसमें सत्याग्रह और हड़ताल भी शामिल हैं, समाजवादी समाज बनाने पर जोर देकर, उन्होंने मार्क्सवाद के जनतान्त्रिक स्वरूप को निखारा और पुष्ट किया और उसे व्यक्तिपूजा और पार्टी डिक्टेटरशिप द्वारा विकृत किये जाने से बचाया। छठे, व्यक्ति की क्रियाशील शक्ति पर जोर देकर तथा यह बताकर कि 'व्यक्ति प्रकृति पर सक्रिय प्रतिक्रिया' करता है, परिस्थितियों की सम्भावनाओं के आधार पर 'परिस्थितियों को बदलता है', 'प्रकृति को बदलता है, अपने स्वभाव को बदलता है, अपनी शक्ति का विकास करता है, उन्होंने मार्क्स के अनियतिवादी तत्त्व को पुष्ट किया और उसके मनोविज्ञान की कमी को पूरा करने की तरफ कदम बढ़ाया। सातवें, दीर्घकालीन नैतिक मूल्यों का और सामान्यशील का पालन मार्क्सवादियों के लिये भी जरूरी बताकर, मानवता को मार्क्सवाद का आधार स्वीकार कर और मार्क्सवादी समाज के नैतिक मूल्यों का विश्लेषण कर मार्क्सवाद के नैतिक स्वरूप को पुष्ट किया और उसके नैतिक भंडार को परिपूर्ण किया। आठवें, समाजवादी संस्कृति के कतिपय मूल तत्त्वों की व्याख्या कर और उसे समाजवादी समाज के निर्माण का महत्त्वपूर्ण अंग बना कर उन्होंने मार्क्सवाद के सांस्कृतिक लक्ष्य की अभिवृद्धि की।

आचार्य नरेन्द्रदेव के इस महत्त्वपूर्ण योगदान को स्वीकार न करते हुए कुछ कट्टरपन्थी मार्क्सवादी उन पर संशोधनवाद (Revisionism) का दोष लगा सकते हैं, पर नरेन्द्रदेवजी इस अभियोग को स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। उनका कहना था—'मार्क्सवाद कोई अटल सिद्धान्त नहीं है। जीवन की गति के साथ वह भी बदलता

है। इसकी विशेषता इसका क्रान्तिकारी होना है। मार्क्स की शिक्षा में हेरफेर करना उस समय तक संशोधनवाद नहीं है जब तक आप इस परिवर्तन से उसके क्रान्तिकारी तत्त्व को सुरक्षित रखते हैं'। 'मार्क्सवाद को एक जिन्दा शास्त्र मानने में ही उसका गौरव है'। वास्तव में नरेन्द्रदेवजी का यह योगदान मार्क्सवाद के मानवतावादी और जनतान्त्रिक तत्त्वों का पोषक और विकास है। उसका अन्तरात्मा के अनुरूप है। मार्क्स की चिन्तनधारा में निहित है।

कम्यूनिस्ट संसार की गति-विधि

स्तालिनयुग में स्तालिनवाद ही मार्क्सवाद समझा जाता था। सर्वशक्तिसम्पन्न स्तालिन ने नाना प्रकार के कुचक्रों और आतंक द्वारा सोवियत रूस पर ऐसा व्यक्तिगत अधिकार स्थापित कर लिया था कि वहां किसी भी कम्यूनिस्ट विचारक को स्तालिन की नीति-रीति की समीक्षा का साहस ही नहीं होता था। पर स्तालिन के निधन के बाद ख्रुश्चेव के नेतृत्व में सोवियत रूस ने स्वीकार किया कि स्तालिन की नीति-रीति बहुत बातों में गलत थी और उसने अपना व्यक्तिगत आधिपत्य स्थापित कर मार्क्सवाद के सिद्धान्तों तथा सोवियत रूस की समाजवादी व्यवस्था के स्वरूप को विकृत कर दिया था तथा सैकड़ों निरपराधी कम्यूनिस्टों को निराधार 'सन्देह' पर मरवा डाला था।

स्तालिन-युग में, विशेषतः दूसरे विश्वयुद्ध के बाद, पूर्वी यूरोप के कम्यूनिस्टों को भी स्तालिन की नीति-रीति का बिना किसी चूं चरा के पालन करना ही पड़ता था। केवल यूगोस्लाविया ने सन् १९४८ में मार्शल टीटो के नेतृत्व में स्तालिन की नीति-रीति को मानने से इनकार किया और आगे चलकर सोवियत रूस की व्यवस्था की समीक्षा करते हुए उसे 'प्रशासनिक समाजवाद (Administrative socialism)' के नाम से सम्बोधित किया और औद्योगिक क्षेत्र में जनतान्त्रिक प्रणाली को प्रतिष्ठित किया। पर वहां भी राजनीतिक क्षेत्र में अधिनायकशाही कायम रही और जिलास जैसे क्रान्तिकारी को अपनी जनतान्त्रिक भावना और विचारों के कारण कारागार का दण्ड सहन करना ही पड़ा।

स्तालिन के निधन के बाद पोलैण्ड और हंगरी आदि देशों के बहुत से नवयुवकों ने भी स्तालिनवाद को मार्क्सवाद की सही व्याख्या मानने से इनकार कर दिया। स्तालिन की नीति-रीति तथा मार्क्सवाद के सम्बन्ध में जो विचार उन्होंने व्यक्त किये वे बहुत हद तक नरेन्द्रदेवजी के विचारों से मिलते जुलते थे और यदि हंगरी के विद्रोह को सोवियत रूस ने अपनी फौज द्वारा न कुचला होता तो पूर्वी यूरोप में मार्क्सवाद और समाजवादी व्यवस्था का स्वरूप सोवियत रूस द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों और व्यवस्था से बहुत भिन्न होता। यद्यपि सोवियत रूस के इस दमन के कारण पूर्वी यूरोप के इन देशों में मार्क्सवादी सिद्धान्तों और व्यवस्था का स्वतन्त्र विकास नहीं हो सका, पर अन्दर-अन्दर आग सुलगती ही रही और सन् १९६८ में चेकोस्लोवाकिया में एक उदार जनतान्त्रिक विरोध का रूप धारण कर उसने वहाँ की राज्य व्यवस्था में परिवर्तन शुरू कर दिया। जनवरी सन् १९६८ में चेकोस्लोवाकिया की कम्यूनिस्ट पार्टी के सम्मेलन ने नोवेतनी के स्थान पर आलेकजाण्डर डुवेचको पार्टी का मन्त्री नियुक्त किया तथा मार्क्सवाद के मानवीय और जनतान्त्रिक तत्त्वों के आधार पर नयी नीति एवं कार्यक्रम निर्धारित किया। सोवियत रूस की मौजूदा सरकार ने चेकोस्लोवाकिया की इस गति-विधि को प्रतिक्रियावादी तथा अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद के हितों के प्रति गद्दारी घोषित करते हुए उसे रोकने के लिये चेकोस्लोवाकिया के मामलों में हस्तक्षेप शुरू किया। यूरोप की बहुत सी कम्यूनिस्ट पार्टियों ने इस प्रकार के हस्तक्षेप पर अपना क्षोभ प्रकट किया। पर सोवियत रूस के नेताओं ने इस क्षोभ की उपेक्षा करते हुए हस्तक्षेप जारी रखा और आगे चल कर पूर्वी जर्मनी, पौलैण्ड, हंगरी तथा बलगेरिया की फौजों के साथ सोवियत रूस की फौज ने चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण कर उसे रूस के नेतृत्व के आगे सरझुकाने पर मजबूर किया। संसार के बहुतसे कम्यूनिस्ट इस आक्रमण से क्षुब्ध हुए, संसार के दूसरे प्रगतिशील तत्त्वों ने इसे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के प्रति जघन्य अपराध करार दिया। रूमानिया, यूगोस्लाविया, अलबानिया आदि कम्यूनिस्ट राज्यों को तो इस आक्रमण के बाद अपनी स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में भी शंका पैदा होने लगी। पर सोवियत रूस की समर्थक कम्यूनिस्ट पार्टियों और नेताओं ने, जिनमें हिन्दुस्तान की कम्यूनिस्ट पार्टियां भी शामिल हैं, इस हस्तक्षेप को अन्तर्राष्ट्रीय

कम्यूनिस्ट व्यवस्था की रक्षा के लिये आवश्यक करार देते हुए उसका समर्थन करना अपना कर्तव्य समझा। सोवियत रूस के कड़े व्यवहार से एक बार फिर पूर्वी यूरोप में स्वतन्त्र प्रगतिशील चिन्तन असम्भव हो गया है। सोवियत रूस के विचारकों ने भी जनतन्त्र तथा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के विरुद्ध कम्यूनिस्ट तानाशाही एवं अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व पर जोर देना शुरू कर दिया है।

उधर चीन में माओत्से तुंग ने स्तालिन का चोला धारण कर सर्व-सत्तावादी मनोवृत्ति में स्तालिन को भी मात कर दिया। जनतन्त्र और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का वहां नितान्त अभाव है। माओवाद ही वहां मार्क्सवाद का शुद्ध स्वरूप समझा जाता है। माओ के विचारों से भिन्न मार्क्सवादी विचार संशोधनवाद के नाम से सम्बोधित और दण्डित किये जाते हैं। संशोधनवाद चीन में सबसे बड़ा अपराध समझा जाता है। मार्क्सवाद की शुद्धता की बलिवेदी पर हजारों कम्यूनिस्ट शहीद कर दिये गये हैं। विवाद ने गृहयुद्ध और नरसंहार का रूप धारण कर लिया है।

निष्कर्ष

इस तरह रूस की क्रान्ति के बाद मार्क्सवाद ने सर्वसत्तावादी तथा जनतन्त्रवादी दो स्वरूप धारण कर लिये। स्तालिन, माओत्से तुंग और उनके अनुयायी सर्वसत्तावाद के समर्थक हैं, उनके विचार में सर्वसत्तावाद ही मार्क्सवाद का सच्चा स्वरूप है। दूसरी ओर आचार्य नरेन्द्रदेव और पूर्वी यूरोप के बहुतसे मार्क्सवादी विचारक जनतन्त्र और मानवता को मार्क्सवाद का मूलाधार मानते हैं। उनके विचार में स्तालिन और माओ ने मार्क्सवाद के स्वरूप को विकृत, उसके विकास को कुंठित तथा स्वतन्त्रता के प्रवाह को अवरुद्ध कर दिया है।

इस समय संसार में सर्वसत्तावादी मार्क्सवादियों का ही बोलबाला है। यद्यपि सोवियत रूस में स्तालिनवाद के परित्याग के बाद तथा चेकोस्लावेकिया पर आक्रमण करने से पहले सर्वसत्तावाद किसी हद तक ढीला हो गया था, पर चीन में माओ के सर्वसत्तावाद की विजय को ही सांस्कृतिक क्रान्ति की मान्यता प्राप्त है। किन्तु आचार्य नरेन्द्रदेव प्रभृति मार्क्सवादियों का दृढ़ विश्वास है कि

'भविष्य जनतान्त्रिक समाजवाद के साथ है'। मनुष्य सदा के लिये 'निरंकुश शासन को बर्दाश्त नहीं करेगा और न ही वह उन व्यवस्थाओं को सहन करेगा जो उसे दबाने के लिये बनी हैं'। 'स्वतन्त्रता और जनतान्त्रिक भावना' मनुष्य का स्वरूप है, आत्मविस्तार द्वारा अपने स्वरूप को प्राप्त करना ही मनुष्य का स्वभाव है'।

———